कल्याण



वर्ष ४३ **परलोक और पुनर्जन्माङ्क** संख्या १

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश, जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवा-शिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

[संस्करण १,६०,०००]

जीवनका फल

सियराम-सरूप अगाध अनूप बिलोचन-मीनन को जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख राम को नाम, हिएँ पुनि रामहि को थलु है॥
मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति राम सों रामहि को बलु है।
सबकी न कहै, तुलसीके मतें इतनो जग जीवनको फलु है॥

—तुलसीदासजी

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु. ९.००
विदेशमें रु. १२.२५
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

इस अङ्कका मूल्य
रु० ९.००
विदेशमें १२.२५
(१५ शिलिंग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण



वर्ष ४३ **परलोक और पुनर्जन्माङ्क** संख्या १

श्रीहरिः

'कल्याण'के प्रेमी पाठकों और ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

(१) जगत्में जितना-जितना भौतिकवाद और भोगवादका प्रसार-प्रचार हो रहा है, उतना ही उतना ही भगवान्, धर्म, परलोक, पुनर्जन्म और दैवी सम्पदामें विश्वास घट रहा है और उसी अनुपातमें कामोपभोगमयी दम्भ, दर्प, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, असत्य, द्वेष, वैर, हिंसा, अशान्ति, विषाद, भय, स्वेच्छाचार, भ्रष्टाचार और अत्याचाररूपिणी आसुरीसम्पदाका विस्तार हो रहा है एवं बुद्धिके तमसाच्छन्न होनेके कारण इसीमें मनुष्य प्रगति, उन्नति, विकास, अभ्युदय, सुख आदिकी मिथ्या कल्पना करके मिथ्या सुखकी आशा-तृष्णासे जला जा रहा है। मानव-जीवनका उद्देश्य 'भगवत्प्राप्ति' या 'आत्मसाक्षात्कार' है—इसको वह प्रायः भूल-सा गया है। शिक्षा, सेवा, समृद्धि तथा बाह्य त्यागके और राजनीति, समाजसुधार, धर्म तथा अध्यात्मके स्थल—आदि सभी क्षेत्रोंमें न्यूनाधिक रूपसे प्रायः भोगोन्मुखी विनाशी प्रवृत्ति चल रही है। इसके फलस्वरूप विनाश, दुःख, पतन आदि भी बढ़ते जा रहे हैं। पता नहीं, क्या परिणाम होगा। इस परिस्थितिमें भगवत्प्रेरणावश इस 'परलोक और पुनर्जन्माङ्क'का प्रकाशन इसीलिये किया जा रहा है कि किसी अंशमें पतन और विनाशकी ओर जानेवाले प्रबल प्रवाहमें कहीं कुछ रुकावट हो। इस अङ्कमें ऐसी ही सामग्री संग्रह करनेका प्रयास किया गया है। इसमें गहन दार्शनिक विषय भी हैं और सरल सहज उद्बोधक प्रसङ्ग भी हैं। घटनाएँ भी दी गयी हैं। चित्र भी हैं। इससे यह विद्वान्, अविद्वान् सभीके लिये उपयोगी है। हमारा उद्देश्य तो केवल 'भगवत्प्रीति' और 'भगवत्सेवा' ही है। कुछ न भी होगा तो भगवान् तो अपनी वस्तुको स्वीकार कर ही चुके हैं। यही परम लाभ है।

(२) इस विशेषाङ्कमें ७०० पृष्ठकी पाठ्य-सामग्री है। सूची आदि अलग हैं। तिरंगे, इकरंगे, बहुत-से चित्र भी हैं। अवश्य ही हम जितने और जैसे चित्र देना चाहते थे, उतने और वैसे परिस्थिति-वश नहीं दिये जा सके हैं। पर जो दिये गये हैं, वे सुन्दर तथा उपयोगी हैं। चित्र बहुत समीप-समीप न रहें, इसलिये उनके कथा-प्रसङ्गोंके साथ न दिये जाकर प्रायः इधर-उधर लगाये गये हैं। पाठक महोदय क्षमा करें।

(३) कागज, डाक-महसूल, वेतन आदि सभी प्रकारका खर्च गतवर्षकी अपेक्षा भी बहुत अधिक बढ़ जानेसे 'कल्याण'में घाटा लग रहा है। नौ रुपये मूल्यमें घाटेकी पूर्ति नहीं हो रही है। पर अभी वही मूल्य रक्खा गया है। इस स्थितिमें हम अपने ग्राहकोंसे इस बार इतना विशेषरूपसे अनुरोध करते हैं कि वे अपना पवित्र कर्तव्य समझकर 'कल्याण'के अधिक-से-अधिक ग्राहक बनाकर रुपये भिजवानेका प्रयत्न करें।

(४) कई कारणोंसे इस बार भी विशेषाङ्क बहुत देरसे जा रहा है। गत बारहवाँ अङ्क भी विलम्बसे गया है। परिस्थितिसे विवश होनेके कारण ही ऐसा करना पड़ा। ग्राहक महानुभावोंको बार-बार पत्र लिखने पड़े। हमें इस बातका बड़ा खेद है। प्रेमी ग्राहक महोदय कृपया क्षमा करें।

(५) 'कल्याण'का विशेषाङ्क तो निकल गया है। पर इस समय देशमें चारों ओर जैसी

अशान्ति, अव्यवस्था, उच्छृङ्खलता, अनियमितता, अनुशासनहीनता आदिका विस्तार हो रहा है, उसे देखते कहा नहीं जा सकता कि 'कल्याण'का प्रकाशन कबतक हो सकेगा या किस रूपमें होगा। अतएव ग्राहकोंको यह मानकर संतोष करना चाहिये कि उनके भेजे हुए नौ रुपयेके पूरे मूल्यका उन्हें यह विशेषाङ्क मिल गया है। अगले अङ्क भेजे जा सके तो अवश्य जायँगे, नहीं तो उनके लिये मनमें क्षोभ न करें—परिस्थितिवश ही ऐसी प्रार्थना करनी पड़ रही है।

(६) जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क भेजे जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका कार्ड तुरंत लिख दें ताकि वी० पी० भेजकर 'कल्याण'को व्यर्थ नुकसान न उठाना पड़े।

(७) मनीआर्डरकूपनमें और वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें स्पष्टरूपसे अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या याद न हो तो 'पुराना ग्राहक' लिख दें। नये ग्राहक बनते हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें। मनीआर्डर 'मैनेजर 'कल्याण' के नाम भेजें। उसमें किसी व्यक्तिका नाम न लिखें।

(८) ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'परलोक-पुनर्जन्माङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० भी चली जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटायें नहीं, प्रयत्न करके किन्हीं सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी कृपा करें। आपके इस कृपापूर्ण प्रयत्नसे आपका 'कल्याण' नुकसानसे बचेगा और आप 'कल्याण'के प्रचारमें सहायक बनेंगे। आपके 'विशेषाङ्क'के लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नम्बर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये।

(९) 'परलोक-पुनर्जन्माङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा। हमलोग जल्दी-से-जल्दी भेजनेकी चेष्टा करेंगे, तो भी सब अङ्कोंके जानेमें लगभग तीन सप्ताह तो लग ही सकते हैं। इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार जायगा। यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

(१०) 'कल्याण'-व्यवस्थाविभाग, 'कल्याण'-सम्पादन-विभाग, 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी), और 'साधक-संघ'के नाम गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये तथा उनपर केवल 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)—इस प्रकार लिखना चाहिये।

(११) सजिल्द अङ्क भी देरसे ही जा सकेंगे। ग्राहक महोदय क्षमा करें।

श्रीहरिः

परलोक और पुनर्जन्माङ्ककी विषय-सूची

चित्र-सूची

बहुरंगे चित्र

दुरंगा चित्र

सादे चित्र

साधक-संघ

देशवासियोंका जीवनस्तर यथार्थ रूपमें ऊँचा हो; उनमें सदाचार, संयम, भक्तिका उदय तथा संवर्धन हो—इसके लिये 'साधक-संघ'की स्थापना की गयी है। इसमें सदस्योंको कोई शुल्क नहीं देना पड़ता। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' दी जाती है, उसके लिये ३० पैसेका मनीआर्डर अथवा डाकके टिकट (रेवेन्यू नहीं) लिफाफेमें भेजकर प्रतिवर्ष मँगवा लेना चाहिये। उसीमें वे अपने नियम-पालनका ब्योरा लिखते हैं। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको स्वयं इसका सदस्य बनना चाहिये और अपने बन्धु-बान्धवों, इष्ट-मित्रों एवं साथी-संगियोंको भी प्रयत्न करके सदस्य बनाना चाहिये। इस समय ९५७३ सदस्य हैं। नियमावली इस पतेपर पत्र लिखकर मँगवाइये—संयोजक, 'साधक-संघ' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) उ० प्र०

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीगीता और श्रीरामचरितमानस—ये दो ऐसे लोक-कल्याणकारी और जीवनके सारे प्रश्नोंका समाधान करनेवाले ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसीलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा लोकमानसको ऊँचा उठानेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इस समय गीता-रामायण दोनोंके मिलाकर कुल ५०० केन्द्र और लगभग २०,००० परीक्षार्थी हैं। नियमावली मगाइये।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पो०—स्वर्गाश्रम, (पौड़ी-गढ़वाल)

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—दोनों आशीर्वादात्मक प्रासादिक ग्रन्थ हैं। इनके प्रेमपूर्ण स्वाध्यायसे लोक-परलोक दोनोंमें कल्याण होता है। इन दोनों मङ्गलमय ग्रन्थोंके पारायणका तथा इनमें वर्णित आदर्श सिद्धान्त और विचारोंका अधिक-से-अधिक प्रसार हो—इसके लिये 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' उन्नीस वर्षोंसे चलाया जा रहा है। अबतक गीता-रामायणके पाठ करनेवालोंकी संख्या लगभग ५५,००० हो चुकी है। इन सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता। सदस्योंको नियमितरूपसे गीता-रामचरितमानसका पठन-अध्ययन और विचार करना पड़ता है। इस संस्थाके द्वारा श्रीगीताके ६ प्रकारके और श्रीरामायणके ३ प्रकारके एवं उपासना-विभागमें नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी या मानसिक पूजा करनेवाले सदस्य बनाकर श्रीगीता और श्रीरामायणके अध्ययन एवं उपासनाके लिये प्रेरणा की जाती है। विशेष जानकारीके लिये इसके नियम और आवेदन-पत्र कार्ड लिखकर मगानेकी कृपा करें।

मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम, (पौड़ी-गढ़वाल) उ० प्र०

The Kalyana-Kalpataru

1. The Gita-Tattva Number—I — Price Rs. 2.50
   (An Exhaustive Commentary in English on the Bhagavad-Gītā along with the original Sanskrit text from Chapters I to VI)
2. The Bhāgavata Number—II, V and VI (@Rs. 2.50 each.) — „ Rs. 7.50
   (An English Translation of Books IV to VI, Book X (Latter Half) and Books XI, XII with original Sanskrit text of the Bhāgavata)
   (Numbers I, III, & IV containing Books I to III, VII to IX and the First Half of Book X respectively, are out of stock.)
3. The Vālmiki-Rāmāyaṇa Number—I, II, III, IV, V, VI & VII — Rs. 18.00
   (An English Translation, with the original Sanskrit text of the Bālakāṇḍa to Sundarakāṇḍa of the Vālmiki-Rāmāyaṇa—@ Rs. 2.50 each, the price of only Sundarakāṇḍa is Rs. 3.00)

Postage free in all cases. *MANAGER*—KALYANA-KALPATARU, P. O. Gita Press (Gorakhpur)

सन् १९६८ में छपी हुई २६ नवीन पुस्तकें

1–Śrī Rāmacharitamānasa (The Mānasa Lake brimming over with the exploit of Śrī Rāma) with Hindi text and English translation page 564, multi-coloured eight pictures Bound price Rs. 10.00

२–गीता-ज्ञान-प्रवेशिका–ले०–स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी, पृष्ठ-संख्या २६०, सचित्र ···· मूल्य .५०

३–सीमाके भीतर असीमका प्रकाश–ले०–अ०आ०श्रीअक्षयकुमार बन्धोपाध्याय, पृष्ठ-संख्या ३३६, ,, ३.००

४–महकते जीवन-फूल–ले०–डा० रामचरणजी महेन्द्र; एम्० ए०, पी-एच्० डी०, पृष्ठ-संख्या४१६, ,, २.००

५–मानव-कल्याणके साधन–(कल्याण-कुञ्ज भाग ५) ले०–'शिव', पृष्ठ-संख्या २७६, ···· ,, १.००

६–दिव्य सुखकी सरिता–(,, भाग ६) ले०–'शिव', पृष्ठ-संख्या १२०, ···· ,, .५०

७–सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ–(,, भाग ७) ले०–'शिव', पृष्ठ-संख्या १४४, ···· ,, .६२

८–गीता-दैनन्दिनी सन् १९६९–पृष्ठ-संख्या ४१६, मूल्य साधारण जिल्द .७५, कपड़ेकी जिल्द ,, .९०

९–श्रीव्रज-रस-माधुरी–पृष्ठ-संख्या २७५, ···· ,, .७०

१०–श्रीराधा-जन्माष्टमी-व्रत-महोत्सव–पृष्ठ-संख्या ७२, ···· ,, .३०

११–मधुर–भाग १–(दिव्य श्रीराधा-माधव-प्रेमकी मधुर झाँकी) पृष्ठ-संख्या १७६, ···· ,, .६५

१२–कलेजेके अक्षर–(पढ़ो, समझो और करो भाग २) पृष्ठ-संख्या १३६, ···· ,, .५०

१३–आदर्श मानव-हृदय–(,, भाग ३) पृष्ठ-संख्या १२६, ···· ,, .५०

१४–दान करना धर्म नहीं, आवश्यकता है–(पढ़ो, समझो और करो भाग ४) पृष्ठ-संख्या १२०, ,, .५०

१५–भलेका भला और बुरेका बुरा–(पढ़ो, समझो और करो भाग ५) पृष्ठ-संख्या १२६, ,, .५०

१६–उपकारका बदला–(पढ़ो, समझो और करो भाग ६) पृष्ठ-संख्या १३२, ···· ,, .५०

१७–असीम नीचता और असीम साधुता–(पढ़ो, समझो और करो भाग ७) पृष्ठ-संख्या १३०, ,, .५०

१८–नवधा भक्तिके निदर्शन–(कहानी) ले०–श्रीचक्र, पृष्ठ-संख्या १०८, ···· ,, .४०

१९–कर्मयोगकी चतुःसूत्री और चतुर्विध भक्त–(कहानी) ले०–श्रीचक्र, पृष्ठ-संख्या ७६, ···· ,, .३०

२०–दस महाव्रत–(कहानी) ले०–श्रीचक्र, पृष्ठ-संख्या ७८, ···· ···· ,, .३०

२१–चमत्कारी आठ 'अ' कार–(कहानी) ले०–श्रीचक्र, पृष्ठ-संख्या ६२, ···· ,, .२५

२२–त्रिविध श्रद्धा और त्रिविध त्याग–(कहानी) ले०–श्रीचक्र, पृष्ठ-संख्या ५०, ···· ,, .२०

२३–बालकोंके कर्तव्य–ले०–ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ-संख्या ८६, ···· ,, .३०

२४–ब्रह्मचर्य और संध्या-गायत्री–ले०– ,, ,, पृष्ठ-संख्या ५८, ···· ,, .२०

२५–भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारी-धर्म–ले० ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ-सं० ४४ ,, .१५

२६–तीन आदर्श देवियाँ–ले०–ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ-संख्या ३२, ···· ,, .१२

दाम घटाये

१–हिन्दी बाल-पोथी–शिशु-पाठ भाग १–के दाम ३० पैसेसे घटाकर २५ पैसे कर दिये गये हैं।

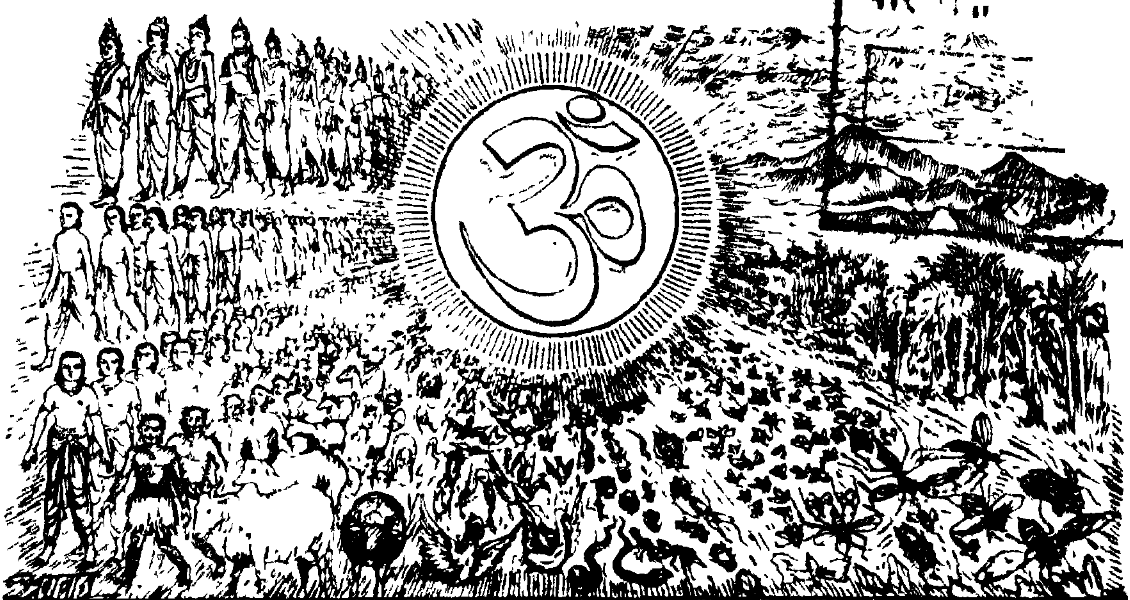
सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग।

व्यवस्थापक–गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)



सूर्य-चन्द्र-अग्निको सूर्यत्व, चन्द्रत्व, अग्नित्व देनेवाले भगवान

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



कल्याण

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥

वर्ष ४३ | गोरखपुर, सौर माघ २०२५, जनवरी १९६९ | संख्या १ | पूर्ण संख्या ५०६

सर्वप्रकाशक ज्योतिर्मय भगवान्

देते सूर्य-सोम-मण्डलको, अग्निदेवको उज्ज्वल भास ।
अष्ट-कमलदलपर वे नित्य स्थित हैं नारायण श्रीवास ॥
जिनके रोम-रोममें अगणित हैं ब्रह्माण्ड नित्य अव्यक्त ।
जो हैं कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके अनन्त रूपोंमें व्यक्त ॥
लीलामय वे लीलाकारण धरे विचित्र विविध बहु रूप ।
दर्शन हैं दे रहे चतुर्भुज विष्णु वही सब भाँति अनूप ॥

* प० पु० क०—

जन्म-मरणरूप संसारसे छूटकर भगवान्‌के परमपदको कौन प्राप्त होता है ?

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ (कठ० १।२।२०)

इस जीवके हृदयरूप गुफामें रहनेवाला आत्मा—परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महान्‌से भी महान् है; परमात्माकी उस महिमाको कामनारहित, वीतशोक विरला पुरुष सर्वाधार परब्रह्म परमेश्वरकी कृपासे ही देख पाता है ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम् ॥ (कठ० १।२।२३)

यह परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकता है; जिसको यह स्वीकार कर लेता है, उसीके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है; यह परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट कर देता है ।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ (कठ० १।२।२४)

सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा भी इस परमात्माको न तो वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो बुरे आचरणोंसे निवृत्त नहीं हुआ है; न वह प्राप्त कर सकता है, जो अशान्त है; न वह ही, जिसके मन-इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं और न वही जिसका मन चञ्चल है । (सदाचारी, शान्त, समाहित और शान्तचित्त पुरुष ही प्राप्त कर सकता है ।)

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ॥ (कठ० १।३।७)

जो सदा विवेकहीन बुद्धिवाला, असंयतचित्त और अपवित्रजीवन रहता है, वह उस परमपदको नहीं पा सकता; वरं वह तो बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें ही भटकता रहता है ।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ (कठ० १।३।८)

परंतु जो सदा विवेकशील बुद्धिसे सम्पन्न, संयतचित्त और पवित्रजीवन होता है, वह उस परमपदको प्राप्त हो जाता है, जहाँसे लौटकर फिर संसारमें जन्म नहीं लेता ।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम् ॥ (कठ० १।३।९)

जो मनुष्य विज्ञान-विवेकशील बुद्धिरूप सारथिसे सम्पन्न तथा मनरूपी लगामको सदा वशमें रखनेवाला है, वह इस संसारमार्गके उस पार पहुँचकर परब्रह्म परमात्मा विष्णुके उस महान् परम पदको प्राप्त हो जाता है ।

अमृतलोक

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री, 'राम', साहित्याचार्य)

(१)

ज्योति चिन्मयीका एक व्यापक महान् पुञ्ज
　　कोटि रवि-शशिसे अमित और न्यारा है।
जिसके प्रतीत एकदेशमें ही सारा यह—
　　वारिद-सा व्योममें प्रपञ्चका पसारा है॥
वह पर-व्योम है, परम पद पुण्यधाम,
　　लोक है अमृत, अवलोकनीय प्यारा है।
वन्दन उसे है, अभिनन्दन उसे है, वह
　　राधा-उर-चंद नन्दनन्दन हमारा है॥

(२)

बाँधा करे बन्धनोंमें विधि या निषेधके जो—
　　ऐसा नहीं वेद-उपवेद वहाँ कोई है।
स्नेह-सुधा-वृष्टि हर दृष्टि करती है सदा
　　होता न किसीको कभी खेद वहाँ कोई है॥
श्याम-गौर धाम अतिशय अभिराम राम
　　दीखता न स्याह या सफेद वहाँ कोई है।
गेह तथा गेहीमें न, नेह तथा नेहीमें न,
　　देह तथा देहीमें न भेद वहाँ कोई है॥

(३)

संधिनीका, संविद्का, ह्लादिनीका लीलालास्य
　　सत-चित-आनँदका विमल विलास है।
कामके गुलाम वहाँ पाते हैं प्रवेश नहीं,
　　देश प्रीतिका है, प्रिया-प्रीतमका वास है॥
पीती चातकी है वहाँ नित्य घनश्याम-रस
　　सतत चकोरीके सुधाकी निधि पास है।
पास है सभीके, किंतु पा सका न कोई भेद,
　　दूर भी है, पास भी, न दूर है, न पास है॥

(४)

योगियोंको अगम, सुगम प्रेम-योगियोंको
　　भूतल वहाँका नित्य-नूतन लखाता है।
संतत समस्त ऋतुओंका सुविलास वहाँ
　　उरमें अमन्द मोदरस उमगाता है॥
जन्म-जरा-मरण शरण वहाँ पाते नहीं,
　　राज्य रसराजका न किसको लुभाता है।
क्लेश-द्वेष,लेश-आधि-व्याधिका प्रवेश नहीं,
　　देश राधिकाके सुखसिन्धु लहराता है॥

(५)

वैर या विरोध जड जगके निरुद्ध, उस
　　चेतन पुरीमें रस-रंगकी रवानी है।
इति-अथ-हीन वह अकथ अपथगम्य
　　सफल कहानीमें न बानोकी भी बानी है॥
प्रणयी असंख्य प्रीतिपात्र सबका है एक
　　पेड़-लतामें भी जहाँ छेड़ छेड़खानी है।
सानी उसकी क्या छैल गैलमें गलीमें जहाँ
　　करता यशोदाका सभीकी अगवानी है॥

(अमृतलोककी राधा)

(६)

चंदमुखी मुखसे बिछाती चाँदनीका जाल
　　धूरि-सी कपूरकी सुहाससे उड़ाती है।
'राम' श्याम-घनकी घटा-सी घिर आती जब,
　　पाससे असित केशपाश लिये जाती है॥
कौंध उठती है बिजली-सी चकाचौंध लिये,
　　चपल कटाक्ष पल-पलमें चलाती है।
मन मनमोहनका मोह मनमोहनी यों
　　कान्तिसे धवल नेह नवल जगाती है॥

(७)

सच्चित्-सुखामृत-सरोवरके कंज मञ्जु
　　मोहन-मधुव्रतके सेव्य हैं, शरण हैं।
दस नख-चंद, मंद मलिन ख-चंद जहाँ
　　नीके चाँदनीके नव्य निर्झर-झरण हैं॥
मंद-मंद गतिसे गयंदके विनिन्दक हैं
　　नन्द-नन्द-नके रतन-आभरण हैं।
'राम' अभिराम कोटि-कोटि रति-काम बिना-
　　दामके गुलाम देख राधिका-चरण हैं॥

आत्माकी अमरता

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीशृंगेरीमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य श्रीअभिनवविद्यातीर्थ स्वामीजी महाराज)

हम संसारमें क्या देखते हैं कि कोई सुखी है, कोई दुखी है; कोई बुद्धिमान् है तो कोई बुद्धिविहीन; कोई धनी है तो कोई कंगाल। कोई भी यह नहीं चाहता कि मैं दुखी, बुद्धिविहीन या कंगाल बनूँ। नहीं चाहते हुए भी क्यों ऐसे बन जाते हैं? कुछ लोग इसका यों समाधान देते हैं कि हमारे लौकिक प्रयत्न और उपाय जैसे होते हैं, वैसे ही हम बनते हैं। जो लोग उपायोंको न अपनायें और प्रयत्न भी न करें, वे कुछ भी नहीं साध सकते, किंतु संसारमें हम यह भी देखते हैं कि उपायोंको अपनाकर सतत प्रयत्न करते रहनेपर भी बहुत-से लोग सफलता प्राप्त नहीं कर सकते।

इसपर हम यह विचार कर सकते हैं कि संसारमें दीखनेवाली यह विचित्रता क्या निर्हेतुक है? नहीं, कोई भी कार्य बिना कारणके नहीं हो सकता। यदि वैसा हो तो फिर कोई भी किसी भी सफलताके लिये प्रयत्न ही क्यों करे। अतः हमें यह अवश्य मानना पड़ता है कि कोई भी कार्य बिना कारणके नहीं हो सकता। तो इस विचित्रताका कारण क्या है।

समं कर्षन्ति पृथिवीं समं शास्त्राण्यधीयते।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति दैवस्यैकस्य लीलया॥

'जमीनको समानरूपसे जोतते हैं, शास्त्रोंको समानरूपसे सीखते हैं, किंतु एकमात्र दैवकी लीलासे डूबते और ऊपर उठते हैं।' वह दैव क्या है? सनातन वैदिक शास्त्रमात्र इसका समाधान देते हैं। वे कहते हैं—'हे मानव! तुमने जो कुछ किया है और करते हो, उनसे जो संस्कार बनते हैं, वे ही दैव या पुण्य-पाप कहलाते हैं। तुम्हारे वे काम ही अब नहीं होते हुए भी, दैवके द्वारा अपना-अपना फल उत्पन्न करते हैं। इससे हम यह निश्चय कर सकते हैं कि सुख-दुःख, विवेक-अविवेक और सम्पत्ति-विपत्ति सब कुछ हमारे कियेका फल है।' इसपर यह प्रश्न होता है कि 'कोई नन्हा-सा बच्चा जन्मसे ही स्वस्थ और कोई माताका स्तन्यतक पीनेमें अशक्त क्यों होता है? इसने ऐसा कौन-सा काम किया, जिससे वह तीव्रतर सुख या दुःख भोगे?'

इसका उत्तर यह है कि 'इस समय उसने कुछ भी न किया हो और करनेमें असमर्थ भी हो; किंतु जब करनेमें समर्थ था, तब जो कुछ किया था, अब केवल उसीका फल भोगता है। फिर समर्थ होनेके बाद जो कुछ करेगा, उसका फल भी आगे अवश्य भोगेगा।' हमारे सुख-दुःखोंके कारण इन जन्मके कर्म भी होते हैं, बीते हुए जन्मोंके भी। जन्मका कारण कर्म, कर्मसे जन्म, जन्मसे कर्म।

'तो यह चक्र कबसे आरम्भ हुआ?' यह चक्र अनादि है। आत्मा भी अनादिकालसे सुख-दुःख भोगता आ रहा है।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।
इह संसारे बहुदुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे॥

(चर्पटपञ्जरिका)

'बार-बार जन्म, बार-बार मरण, बार-बार माताकी कोखमें निवास, हे मुरारे! संसार बड़ा दुस्तर है। कृपा करके इससे हमें उबारिये।'

इस चक्रका आदि मानें तो चक्रके चलानेवालेपर वैषम्य-नैर्घृण्य (पक्षपात तथा कृपाहीनता) दोष मढ़ने पड़ेंगे। और जिसमें पक्षपातादि दोष हों, वह भगवान ही नहीं। गीतामें भगवान्ने अपने स्वरूपका प्रतिपादन किया—**'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।** मैं न किसीसे घृणा करता हूँ, न प्यार।' भगवान् तो कर्मफलदाता हैं। कर्मके अनुरूप फल देंगे। कर्मचक्र ही अनादि हुआ तो फिर जीवके अनादित्वमें तो कहना ही क्या है।

ये कर्म भी स्वरूपाज्ञानसे हुआ करते हैं।—**'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।'** अज्ञानसे ज्ञानके आवृत होनेके कारण लोग मोहग्रस्त हो जाते हैं। मोहसे कर्म, कर्मसे जन्म और जन्मसे सुख-दुःख-प्राप्ति। इस अनादि चक्रको वेदान्तशास्त्रजन्य स्वरूपज्ञानसे हटाकर आत्मा परमानन्द प्रकाशस्वरूप होकर विराजेगा।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

(गीता ५। १६)

जीवनका सनातन प्रश्न

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थ स्वामीजी महाराज)

प्रायः सभी मनुष्योंके जीवनमें किसी-न-किसी समय ये प्रश्न आये बिना नहीं रहते कि 'मैं कहाँसे आया हूँ ?' और 'कहाँ जाऊँगा ?'—'कोऽहं कुत आयातः' । बात स्पष्ट है कि अनभिज्ञलोग या अल्पज्ञलोग इन प्रश्नोंको टालनेका प्रयत्न करते हैं । अधिकांश विद्वान्‌लोग विचार करके थक जाते हैं और उत्तर शायद ही पाते हैं । ये प्रश्न सनातन हैं और खोज भी पुरातन ही है । जगत्सृष्टिके समयसे यह खोज सभी देशोंमें और सभी मतों तथा सभी दर्शनोंमें की जा रही है । विभिन्न मतवाले लोग परलोक तथा पुनर्जन्मके सम्बन्धमें अपने-अपने विचार भी प्रदर्शित करते रहे हैं । इन सब विचारोंपर परामर्श किये बिना अपने-अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तका स्थापित करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है ।

कठोपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीताका बीज-प्रश्न भी यही है । अन्यान्य उपनिषदोंमें, पुराणोंमें और दर्शन-ग्रन्थोंमें भी इस विषयपर बड़ी चर्चा आयी है । वह ठीक ही है; क्योंकि पुनर्जन्म परलोकसम्बन्धी चर्चाके बिना अध्यात्म-विचार हो ही नहीं सकता । कठोपनिषद्में—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
तद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥
(१ । १ । २०)

—यह जो प्रश्न अधिकारी शिष्य नचिकेताने गुरु ब्रह्म-विद्याचार्य वैवस्वत यमसे किया, वह प्रश्न सनातन ही है । गीताका द्वितीयाध्याय, जो गीताका हार्द है और जिसमें अर्जुनके मुख्य प्रश्नका उत्तर आया है, वह सम्पूर्णतः कठोपनिषद्पर ही आधारित है । दोनोंमें **'नायं हन्ति न हन्यते'** इत्यादि कई सिद्धान्त-वाक्य समान रूपमें उपलब्ध होते हैं, यह बात विद्वानोंको विदित ही है ।

सभी दार्शनिक ग्रन्थोंमें—विशेषरूपसे गीतामें स्पष्ट सिद्ध किया गया है कि आत्मा अजर-अमर तथा अविनाशी है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
(गीता २ । २३-२४)

और पुनर्जन्मके सम्बन्धमें सर्वश्रुत श्लोकोंमें बताया है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(गीता २ । २२)

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ॥
(गीता २ । २७)

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
(गीता ९ । २१)

—आदि प्रकरणोंमें तथा **'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।'** (८ । २६) आदि प्रकरणमें भी जीवके बाहर जाने अर्थात् परलोकगमनके सम्बन्धमें स्पष्ट कहा गया है ।

परलोक और पुनर्जन्म भारतीय वैदिकधर्मकी मूलभित्ति होनेसे इन्हीं विषयोंपर यह 'कल्याण'के विशेषाङ्कका प्रकाशन सभीके लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगा । 'इति शुभम्'

मानव-जीवनका उद्देश्य

(लेखक—पू० अनन्तश्रीविभूषित श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य स्वामीजी श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थजी महाराज)

संसारके सभी प्राणी सुख-दुःख भोगते हैं। जन्मसे ही इस भोगका आरम्भ हो जाता है। इसमें भी तारतम्य है। एक व्यक्ति जन्म-समयसे ही सुख-सुविधाओंकी भरमार पाता है। उसके पैदा होते समय 'एयर कंडीशन्ड' कमरा होता है। ५-७ डाक्टर, लेडी डाक्टर, नर्सें जच्चा और बच्चाकी सेवा-शुश्रूषाके लिये तत्पर रहती है। क्षण-क्षणमें बन्धु-बान्धवोंके टेलीफोन उनकी व्यवस्थाकी जानकारीके लिये आते रहते हैं। पर इसका दूसरा पहलू भी है। एक माता खेतमें अनाज या घास काट रही है। दोपहरका समय है। नीचेसे पैर जल रहे हैं और ऊपरसे भगवान् भास्करका प्रखर ताप उसके मस्तकको संतप्त कर रहा है। सारा शरीर पसीनेसे सराबोर है। इसी अवस्थामें बालकका जन्म भी हो जाता है। सर्वथा असहाय अवस्थामें वह अपने इस नवजात शिशुको खेतके साग-पत्ते, अन्न अथवा घासकी टोकरीमें रखकर, अपने सिरपर उठाकर घर चली आती है। स्पष्ट है कि उत्पन्न होते ही इन दोनों बालकोंको जो सुख-दुःखकी उपलब्धियाँ हुईं, उनका कुछ कारण होना चाहिये। यह केवल प्रकृतिकी लीला है—ऐसा कहकर पिण्ड छुड़ाना शोभा नहीं देता। अतः मानना पड़ेगा कि दोनोंने ही पहले कुछ ऐसे कर्म किये हैं, जिनके फलस्वरूप जन्मते ही उन्हें ये सुख और दुःख मिले। 'कर्मके फल', 'कर्म' और 'पुनर्जन्म'—तीनोंकी सिद्धि इस एक ऊपरके उदाहरणसे हो जाती है। लोग इसे स्वभाव, प्रकृति या नेचर कहकर संतोष भले ही कर लें, पर वस्तुतः इन समस्याओंका उत्तर तो तभी हो सकता है, जब इनके मूलकारणकी खोज की जाय और वह मूलकारण विभिन्न प्रकारके शुभाशुभ कर्म ही हो सकते हैं, जिनके फलस्वरूप प्राणिमात्रको तारतम्य या वैषम्यसे जन्मसे मृत्युपर्यन्त सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं।

कर्म भी फल देनेमें स्वतन्त्र नहीं हैं; क्योंकि वे जड हैं। लोकमें भी सेवा, नौकरी, व्यापार आदि कर्म स्वयं स्वतन्त्ररूपसे फल नहीं देते, अपितु किसी नियामक, स्वामी, व्यवस्थापक आदिके द्वारा फल देते हैं। नौकरी करनेवालेको नौकरीरूप उसका कर्म स्वयं वेतन नहीं देता; किंतु जिसकी वह नौकरी करता है, वह स्वामी नौकरीका फल वेतनके रूपमें देता है। अतः कर्मोका फल देनेवाले एक 'कर्म-फलदाता'को मानना पड़ेगा। लौकिक कर्मोंके फल वे ही दे सकते हैं, जिन्हें कर्म करनेवाले व्यक्तियोंका, उनके द्वारा किये गये कर्मों और उनके फलों (परिणामों) का ठीक-ठीक ज्ञान हो। किसी स्कूल या कॉलेजके प्रधानाध्यापक, प्रिंसिपल, कारखाने, मिल, फैक्टरी आदिके मैनेजर इसके उदाहरणरूप दिये जा सकते हैं। वे अपने अधिकृत कर्म करनेवाले सभी व्यक्तियोंको जानते हैं, उनके द्वारा किये जानेवाले कार्योंको जानते हैं और उन कार्योंके फलोंको जानकर, प्रत्येक व्यक्तिको उसके कर्मका फल नियमानुसार देते हैं। ठीक, इसी प्रकार अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड-स्वरूप इस संसारमें एक-एक ब्रह्माण्डमें अनन्तानन्त जीव हैं। ब्रह्माण्डकी अनेकता और अनन्तता अब वैज्ञानिक भी स्वीकृत कर चुके हैं। चन्द्र, शुक्र और सूर्यलोक तथा पृथ्वीका ओर-छोर लेनेके लिये अन्तरिक्षकी उड़ान करनेवाले वैज्ञानिकोंने अपना यह स्पष्ट मत अभि-व्यक्त कर दिया है कि इस दुनिया-जैसी ऐसी ही बहुत-सी दुनियाएँ विश्वमें सम्भव हैं। यही हमारे ब्रह्माण्डोंको अनन्त कहनेका तात्पर्य है। अनन्तानन्त ब्रह्माण्डोंमें एक-एक ब्रह्माण्डमें अनन्तानन्त जीव रहते हैं, जिनका ज्ञान संसारके किसी एकको तो क्या, सभी वैज्ञानिकोंको नहीं हो सकता। मनुष्योंकी, पशुओंकी और किसी अंशमें पक्षियोंकी गणना की जा सकती है, किंतु कीट, पतङ्ग आदि योनियोंमें कितने जीव इस संसारमें भटक रहे हैं, इसका पता क्या सारे संसारके वैज्ञानिक 'राउण्ड टेबल कान्फ्रेन्स' करके या जीवनभर खोजबीन करके लगा सकते हैं? बरसातकी एक रात्रिमें एक नगरके एक मुहल्लेकी एक सड़कके एक बिजलीके बल्बके नीचे कितने हजार जीव एक ही रात्रिमें पैदा होकर सबेरा होते-होते समाप्त हो जाते हैं। इन जीवोंकी गणना, भिन्न-भिन्न जातियाँ, खान-पान और इनके सुख-दुःखके प्रकार जानना क्या आजकलके पहुँचे हुए वैज्ञानिकोंके लिये भी सम्भव है? किंतु यह सब कार्य ऐसा नियमित और व्यवस्थित होता है कि जिसके आधारपर एक किसी परम समर्थ सर्वज्ञ नियामक या व्यवस्थापककी कल्पना न चाहते हुए भी करनी पड़ती है; अन्यथा किस व्यक्तिने उन सब जीवोंको एक नियमित

समयमें उत्पन्न किया, नियमित जीवन प्रदान किया और नियमित मृत्यु अथवा कराल कालके गालमें सन्निविष्ट कर दिया—यह प्रश्न सारे संसारके बुद्धिमानोंके सामने खड़ा ही रहता है।

ईश्वरको मान लेनेपर इसका सीधा समाधान हो जाता है! अनन्तानन्त ब्रह्माण्डोंके एक-एक ब्रह्माण्डमें अनन्तानन्त जीव हैं। अनन्तानन्त जीवोंमें एक-एक जीवके अनन्तानन्त जन्म हैं। एक एक जीवके अनन्तानन्त जन्मोंमें एक-एक जन्मके अनन्तानन्त कर्म हैं। अनन्तानन्त कर्मोंमें एक-एक कर्मके अनन्त फल हैं और अनेक कर्मोंके एक-एक फल भी हैं। इनसे ही जन्म, संस्कार और फल बनते हैं। ऊपर लिखे गये विवरणसे जीवोंके प्राग्जन्म, पुनर्जन्म और बारंबार जन्म न माननेवाले व्यक्तिसे यह पूछा जा सकता है कि मनुष्यका बालक छः महीनेमें प्रयत्न करनेपर बैठना सीखता है; पर गाय, भैंस, गधे, घोड़ेका बच्चा पैदा होनेके कुछ क्षण पश्चात् ही केवल चलने ही नहीं लगता, अपितु उछलने-कूदने, फाँदने और भागने लगता है। पुनर्जन्म न माननेवालेसे हम पूछते हैं कि इन पशुओंके इन बच्चोंको यह ट्रेनिंग किसने दी? इसके लिये कहाँ 'ट्रेनिंग सेण्टर या इन्स्टीट्यूशन' खुले हुए हैं? पक्षियोंके बच्चोंको उड़ना किसने सिखाया? हंसको नीर-क्षीर विवेककी शिक्षा किसने दी? कागके शावकको उत्तमोत्तम भक्ष्य, भोज्य, लेह्य पदार्थका परित्याग-कर अति बीभत्स और जघन्य विष्ठाकी ओर ही आकृष्ट होनेकी तत्परता किसने सिखलायी? सद्योजात सिंह-शावकको हरिणपर आक्रमण करनेका उपदेश किसने दिया? इन सबके उत्तरमें भी प्रकृति, स्वभाव, नेचर कहकर लोग संतोष भले ही कर लें, किंतु यह इन प्रश्नोंका सत्य समाधान नहीं, जब कि पुनर्जन्म, प्राग्जन्म और एक-एक जीवके बारंबार अनेक जन्म माननेपर इस समस्याका संतोषजनक समाधान सहज और सुलभ हो जाता है। यह स्पष्ट है कि गाय, भैंस, गधे या घोड़ेका बच्चा केवल वर्तमान जन्ममें ही गाय, भैंस, गधे, घोड़ेका शरीर पाकर नहीं आया, किंतु पुनर्जन्मके सिद्धान्तानुसार वह पहले भी अनेक बार ऐसे जन्म पा चुका है और उन जन्मोंमें जन्मते ही उछलने-कूदने, भागनेका अभ्यास उसका बना हुआ है। उसी अभ्यासके कारण वर्तमान जन्ममें भी पूर्व संस्कारोंके उद्बोधसे, बिना किसीके सिखाये वह यह सब करने लगता है।

पूर्वजन्मके संस्कार मनमें रहते हैं। उन संस्कारोंका उद्बोधन करनेवाला देश, काल, अवस्था, परिस्थिति आदि कोई भी पदार्थ जैसे ही सामने आता है, संस्कार उद्भूत हो जाते हैं और प्राणीको पूर्वजन्मके अभ्याससे उस कार्यमें प्रवृत्त कर देते हैं। यही कारण है कि पक्षीका बच्चा बिना शिक्षा या उपदेशके ही उड़ने लगता है। हंस नीर-क्षीर-विवेक कर लेता है और सिंह-शावक हरिणको दबोच बैठता है। कहा जा सकता है कि एक मनमें इतने संस्कार कैसे और कहाँसे आ सकते हैं? इसका उत्तर यही है कि जैसे घी, तेल, अचार अथवा ऐसी ही कोई अन्य वस्तु जिस मिट्टीके पात्रमें कुछ दिन रक्खी जाय, उस मिट्टीके पात्रको तेल, घी आदि निकालकर, सोडा, मिट्टी, गरम पानी आदि स्नेह-निवारक द्रव्योंसे रगड़-रगड़कर खूब अच्छी तरह धो लेनेपर भी क्या उस पात्रमेंसे चिकनाहटके संस्कार मिट सकते हैं? कहना न होगा कि धोनेके बाद तत्काल उसमें चिकनाहट भले ही दिखायी न दे, पर ज्यों-ही उस पात्रको धूप अथवा अग्निका संयोग प्राप्त होगा, चिकनाहट उससे बाहर आ जायगी। यहाँ चिकनाहटके संस्कार पात्रमें छिपे हुए थे, अग्नि अथवा आतपने संस्कारोंको उद्बुद्ध कर दिया। ठीक इसी प्रकार अनेक बार पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, देवता, दानव, मानव, कूकर, शूकर आदि योनियोंमें जन्म लेनेके कारण उन सबके कार्मोंके संस्कार प्रत्येक प्राणीके मनमें विद्यमान हैं, किंतु छिपे हुए रहते हैं। जैसे ही धूप या अग्निकी तरह उन संस्कारोंका उद्बोधक पशु-पक्षी आदिका जन्म मिला कि संस्कार उद्बुद्ध होकर, उस प्राणीको उड़ने-बैठने, दौड़ने-भागने, उड़ने, मारने-काटने आदिमें प्रवृत्त कर देते हैं। अतः एक-एक जीवके अनन्तानन्त जन्म माननेसे ही इन प्रश्नोंका समाधान होता है।

चैतन्यको पञ्चमहाभूतोंका परिणाम माननेपर यह आपत्ति होती है कि इन भूतोंमें अलग-अलग चैतन्य नहीं है। अतः इनके समुदायमें भी चैतन्य नहीं हो सकता। कहा जा सकता है कि 'कत्था, चूना, पान, सुपारी—इनमें अलग-अलग किसीमें लाल रंग नहीं है; किंतु इनके संयोगसे जैसे लाल रंग उत्पन्न हो जाता है और गुड़,

आटा, महुवा आदिमें किसीमें पृथक्-पृथक् मादकता न होनेपर भी उनका योग होनेपर सबमें मादकता उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतोंके संयोगसे शरीरमें भी स्वतः 'चेतन' उत्पन्न हो जाता है। अतः शरीरसे भिन्न किसी चेतनको माननेकी आवश्यकता नहीं। गुलाबके बीजमें ही जैसे गुलाबके अङ्कुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, काँटे और फलतकमें रहनेवाली सुमधुर गन्धको उत्पन्न करनेकी शक्ति है, ठीक वैसे ही माता-पिताके रज-वीर्यमें ही रहकर चरणादिमान शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण और चैतन्यको उत्पन्न करनेकी शक्ति है। अतः पृथक् चैतन्य आत्माके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।' किंतु इन सब बातोंका सीधा एक यही उत्तर है कि ऐसा माननेपर 'कृतहानि' और 'अकृताभ्यागम' दोष प्रसक्त होंगे। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक शरीरमें माता-पिताके रज-वीर्यसे ही नवीन चैतन्यकी उत्पत्ति माननेपर, उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति जन्मसे ही जो सुख-दुःख भोगता है, उन सुख-दुःखोंका कारण क्या है? क्योंकि आत्मा गुलाबके फूलकी तरह माता-पिताके रज-वीर्यसे नवीन उत्पन्न हुआ। उसने पहले कोई कार्य नहीं किया तो बिना किये कर्मोंके वह किनका फल भोगता है? इसीको 'अकृताभ्यागम' कहते हैं। पहले कर्म कोई किये नहीं और पैदा होते ही सुख-दुःख भोगना अनिवार्य हो गया। ऐसे ही बिना किसी स्थायी चैतन्यकी सत्ता स्वीकार किये जब यह आत्मा शरीरके साथ मर जायगा और इस शरीरके साथ ही आत्मा जल जायगा तो इस शरीररूपी आत्माने जीवनपर्यन्त जो अच्छे-बुरे कर्म किये, उनका फल भोगनेवाला कोई दूसरा रह नहीं जायगा। इसको 'कृतहानि दोष' कहते हैं। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे भिन्न एक स्थायी चेतन आत्माके न माननेपर इन दोनों दोषोंका निवारण कभी किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। प्रत्येक जीवनके प्रत्येक व्यक्तिके किये हुए सभी कार्य व्यर्थ जायँ और जन्मते ही बिना किये हुए कर्मोंके फल भोगने पड़ें—इन दोनों दोषोंकी निवृत्ति तभी हो सकती है, जब शरीर, मन, बुद्धि आदिसे भिन्न एक स्थायी आत्मा माना जाय और उसका पुनर्जन्म भी माना जाय। पुनर्जन्म माननेपर पूर्व-पूर्व जन्मोंके कर्मोंका फल उत्तरोत्तर जन्ममें भोग लेंगे और बिना किये हुए कर्मोंका फल भोगना नहीं पड़ेगा—इस प्रकार सभी शङ्काओंका समाधान हो जाता है। अतः पृथक् आत्मा, जीवकी सत्ता और पुनर्जन्मका सिद्धान्त स्वीकार करना अनिवार्य है।

पुनर्जन्मका आधार कर्म ही है। उसका फल भोगनेके लिये ही पुनर्जन्म लेना पड़ता है। कुछ मतों तथा महानुभावोंका कथन है कि मनुष्य-योनि प्राप्त होनेके बाद आत्मा अन्य योनियोंमें नहीं जाता। यह कथन वस्तुतः भारतीय दर्शन, धर्मशास्त्र और वेद-शास्त्रके विरुद्ध है। कर्मका फल भोगनेके लिये मनुष्य-जन्मके पश्चात् किसी भी योनिमें आत्मा जा सकता है। वस्तुतः इन सब बातोंमें किसी मत या व्यक्तिविशेषकी रायका कोई अर्थ नहीं है। धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्रके सिद्धान्त ही इस सम्बन्धमें मान्य होने चाहिये। जडभरत-जैसे महासिद्ध योगीको भी कर्मवशात् हरिणका जन्म लेना पड़ा। फिर कैसे कहा जा सकता है कि मनुष्य-जन्म प्राप्त होनेके बाद जीव अन्य किसी योनिमें नहीं आता! शास्त्रोंमें ऐसे हजारों उदाहरण हैं। मनुष्य-योनि तो क्या, साक्षात् इन्द्रका पद प्राप्त होनेपर भी नहुषको सर्प बनना पड़ा। करोड़ों नहीं, अपितु पृथ्वीमें जितने बालूके कण हैं, वर्षाकी जितनी धाराएँ और मानव-शरीरमें जितने रोम हैं, उतनी गायोंका दान करनेवाले राजा नृगको गिरगिट बनना पड़ा।

हमारे रिश्ते-नाते चिरस्थायी तो नहीं, किंतु एक जन्म तक प्रायः उनका सम्बन्ध रहता है। केवल पतिव्रता स्त्री दूसरे जन्ममें भी अपने पूर्वजन्मके ही पतिको पुनः प्राप्त करती है। शेष सभी सम्बन्ध प्रायः एक जन्मके हैं। भगवान् शंकराचार्यने संसारसे वैराग्यका उपदेश देते हुए कहा है कि इस जन्मके माता, पिता, पुत्र, पौत्र, कलत्र, मित्र आदिकी चिन्तामें व्यस्त मनुष्यको सोचना चाहिये कि इससे पहले न जाने कितनी बार हमने जन्म लिये; उन जन्मोंमें भी माता, पिता, भ्राता, बन्धु-बान्धव सगे सम्बन्धी थे ही; किंतु आज वे सब कहाँ हैं और हम कहाँ हैं? संसारके नाते-रिश्ते ठीक उसी प्रकारके हैं, जिस प्रकार समुद्रमें तरङ्गोंसे टकराकर आये हुए दो काष्ठ-फलक कभी एक-दूसरेसे मिल जाते हैं और पुनः महोदधिकी उत्ताल तरङ्गोंसे ऐसे अलग हो जाते हैं कि फिर उनके स्वप्नमें भी मिलनेकी आशा नहीं रहती। प्रायः सभी शास्त्रों, संत-महात्माओंने सांसारिक सम्बन्धोंके विषयमें ऐसा ही मत अभिव्यक्त किया है। कभी-कभी प्रबल

प्रारब्धवश एकसे अधिक जन्ममें भी सम्बन्ध स्थिर हो सकते हैं, किंतु उन्हें अपवाद ही मानना पड़ेगा ।

युक्ति और तर्कसे कभी भी न तो पाप-पुण्य या अच्छे-बुरेकी पहचान हुई है, न हो रही है और न होगी ही। ये पाप-पुण्य हमारे भावी जीवनको अवश्य ही प्रभावित और प्रमाणित करते हैं । इतना ही नहीं, इन्हींके अनुसार भावी जीवनका निर्माण होता है । इस जन्ममें किये हुए कर्मोंसे ही भविष्यमें जन्म प्राप्त होता है । महात्मा लोग एक कहानी कहा करते हैं—"एक बहुत बड़े धनिक किसी महात्माके भक्त थे । नित्यप्रति उनके दर्शनार्थ आना-जाना, उनके भिक्षा-वस्त्रादिका प्रबन्ध करना उनका नित्य-कार्य बन गया था । महात्माजीके ऐसे और भी भक्त थे, जिनसे उनको यदा-कदा भेंट-पूजामें द्रव्यकी प्राप्ति भी होती रहती थी । धीरे-धीरे महात्माजीके पास लगभग एक लाख रुपये इकट्ठे हो गये । अपने प्रति सर्वाधिक श्रद्धा-भक्ति दिखानेवाले उस धनिकपर विश्वास कर महात्माने एक लाख रुपये उसीके पास जमा कर दिये । कुछ समयके पश्चात् उनकी इच्छा आश्रम बनानेकी हुई । सेठजीसे उन्होंने रुपये माँगे । उनकी नीयत बदल गयी । वे कहने लगे—'कैसे रुपये ? कब दिये थे ? आप-जैसे लंगोटी लगानेवालेके पास एक लाख रुपये !' इन अप्रत्याशित वचनोंको सुनकर महात्माके हृदयकी गति बंद हो गयी और तत्काल उनका प्राणान्त हो गया । उधर सेठजीके कोई संतान न थी । सेठजी इस घटनाको भूल गये; किंतु ठीक दसवें महीने उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ । ऐसी धनसमृद्धियुक्त वृद्धावस्थामें पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसकी कभी आशा नहीं थी । पैदा होते ही इस खुशीमें पैसा पानीकी तरह बहाया जाने लगा । लड़केके लालन-पालन, देख-रेख, खिलौने आदिमें भी पैसेकी जगह रुपया खर्च किया जाने लगा । ऐसे लाड़-प्यारसे पला लड़का भी बचपनसे ही आवश्यकतासे अधिक खर्चीला होता चला गया । युवावस्थामें आते-आते उसकी फजूलखर्चीका पारावार न रहा । रात-दिन यार-दोस्तोंमें पड़े रहना, खाना-पीना, मौज करना और गुलछर्रे उड़ाना—यही उसकी वृत्ति बन गयी । प्रारम्भमें तो पिताने अपने इकलौते बेटेकी इस चर्यापर ध्यान नहीं दिया, किंतु जैसे-जैसे समय बीतता गया, पिताकी चिन्ताएँ बढ़ने लगीं । फिर भी पिताने कभी यह हिसाब लगाकर नहीं देखा कि लड़का कितना खर्च कर चुका और कितना कर रहा है । सिलसिला जारी रहा ।

एक दिन लड़केने बहुत बड़ा भोज दिया । अपने इष्ट-मित्र, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धवोंको मनचाहा भोजन-वस्त्र आदि देकर उनका सम्मान किया । सारे आयोजनके पश्चात् लड़केने भी स्वयं अपने कुछ चुने हुए इष्ट मित्रोंके साथ भोजन किया । उन्हें विदा कर सोते समय उसे स्मरण आया कि 'मैंने पान नहीं खाया ।'

तत्काल नौकरसे पान मँगवाया गया । लड़का पान खाकर जो सोया तो उठा ही नहीं । बहुत रोने-पीटनेके पश्चात् सेठजी जब शान्त हुए और मुनीम गुमास्तेने जब हिसाब बताया तो पानकी कीमतसे एक लाख रुपयेकी रकम पूरी हुई ।'' इस कहानीसे जो चाहे सो भाव और शिक्षा ली जा सकती है ।

× × × ×

जीवनमें शान्ति भगवत्-प्राप्तिसे ही हो सकती है और भगवत्प्राप्ति निष्काम कर्मके द्वारा चित्तकी शुद्धि, उपासनाके द्वारा चित्तकी एकाग्रता तथा ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होनेपर ही हो सकती है । मनमें भगवान्का साक्षात्कार होता है । मनमें मल, विक्षेप और आवरण—तीन दोष हैं । पहला दोष मनकी 'मलिनता' है, जिसका कारण है—जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तरमें किये गये शुभाशुभ कर्मोंकी वासना । मैले कपड़ेको साबुन या क्षारसे धोनेपर जैसे उसमें स्वच्छता आती है, ठीक वैसे ही मनके मलिन संस्कारोंको धोनेके लिये शास्त्रविहित निष्काम कर्मकी आवश्यकता है । मनका दूसरा दोष है—'विक्षेप' अर्थात् चित्तकी चञ्चलता । उसके दूर करनेका एकमात्र उपाय है—भगवान्की भक्ति । दूसरे शब्दोंमें भगवान्में प्रेम । प्रेम उसी वस्तुमें उत्पन्न होता है, जिसके रूप और गुणोंका ज्ञान हो । लौकिक पदार्थोंमें भी उनके रूप और गुणोंका ज्ञान होनेपर ही प्रेम उत्पन्न होता है; इसी प्रकार भगवान्में प्रेम उत्पन्न करनेके लिये भगवान्के रूप और गुणोंका ज्ञान आवश्यक है और भगवद्रूप तथा गुणोंके ज्ञानका साधन है—इतिहास-पुराणद्वारा भगवान्के पवित्र चरित्रका श्रवण अथवा पठन । भगवान्के चरित्रका जितना ही अधिक श्रवण अथवा पठन होगा, उतना ही अधिक भगवान्में प्रेम बढ़ता चला जायगा । जैसे-जैसे प्रेम बढ़ेगा, वैसे-वैसे ही भगवान्में मन भी लगने लगेगा । स्त्री-पुत्रादिमें भी प्रेम बढ़नेसे ही मन लगता है और प्रेम बढ़ानेका उपाय—जिसमें प्रेम हो, उसके रूप और

गुणोंका ज्ञान ही है । अतः रामायण-महाभारत आदि इतिहास तथा पुराणोंके श्रवण अथवा पठनके द्वारा भगवान्के रूप और गुणोंके ज्ञानकी सर्वप्रथम आवश्यकता है । इसके बिना भगवद्भक्ति नहीं हो सकती और भगवद्भक्तिके बिना चित्तकी चञ्चलता मिटती नहीं । इन साधनोंसे चित्तके एकाग्र हो जानेपर शान्त मनमें विषयोंके प्रति उपराग हो जाता है । फिर सुख-दुःख, भूख-प्यास और सर्दी-गरमीके सहन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है । क्रमशः गुरु और शास्त्रोंके वाक्योंमें श्रद्धा-विश्वास उत्पन्न होने लगते हैं, जिनसे चित्तका समाधान हो जानेपर मोक्षकी इच्छा होती है । फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा भगवान्का साक्षात्कार होनेपर शाश्वत शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है ।

यही जीवनका उद्देश्य है ।

जीवन और मृत्युका रहस्य

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

जीवन और मृत्यु—दोनों ही शब्द संस्कृत भाषाके हैं तथा परस्परविरोधी हैं । जीव, प्राणधारणे—धातुसे 'जीवन' शब्द और मृङ्, प्राणत्यागेसे 'मृत्यु' शब्दकी व्युत्पत्ति होती है । प्राणधारणका प्राणत्याग बिल्कुल विपरीतार्थक है । इसका सीधा-सा यह अभिप्राय है कि जबतक प्राण-वायुका संचार नासिकारन्ध्रद्वारा होता रहता है, तबतक 'जीवन' और जब प्राण-वायुका नासिकारन्ध्रोंसे गतागत समाप्त हो जाता है, तब 'मृत्यु' शब्दका प्रयोग होने लगता है । इस प्राण-वायुके धारण और प्राण-वायुके परित्यागद्वारा जो जीवन और मरण—ये दो अवस्थाएँ बनीं, वे शरीरकी हैं या शरीरके अभ्यन्तर निवास करनेवाले जीवकी अथवा केवल वायुकी ?

जीवन और मृत्युका व्यपदेश शरीरसे सम्बन्ध रखता है । अर्थात् जबतक शरीरमें प्राण-वायुका संचार रहता है, तबतक नेत्रोंसे अंधा, कानोंसे बधिर और वाणीसे गूँगा भी 'जीवित' ही कहा जाता है । जब प्राण-वायुका सम्बन्ध शरीरसे हट जाता है, तो सभी इन्द्रियोंसे सम्पृक्त होता हुआ भी वह 'मृत' माना जाता है । इसलिये प्राणको सबसे उत्तम माना गया । **यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति । प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ।** (छा० उप० ५ । १ । १) इसी अध्यायमें प्राणको सबसे श्रेष्ठ बताया गया है—'**ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः, भगवन् ! को नः श्रेष्ठः इति । तान् होवाच—यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठः ।**' (छा० उप० ५ । १ । ७) 'प्रजापतिके पास जाकर समस्त इन्द्रियोंसहित प्राणोंने कहा—'भगवन् ! हम सबमें कौन बड़ा है ?' प्रजापति भगवान्ने सीधा उत्तर दिया कि 'जिसके निकल जानेपर यह शरीर अत्यन्त हेय समझा जाय वही सबसे बड़ा है ।' प्रजापतिकी इस बातपर विश्वास न कर सबसे पहले वागिन्द्रियने शरीरका परित्याग किया । पर शरीरकी केवल वक्तृत्व-शक्तिको छोड़कर और कुछ हानि नहीं हुई । पूर्वकी भाँति सुनना, देखना और समझना बना रहा । इसी प्रकार क्रम-क्रमसे एक-एक कर सब इन्द्रियोंने शरीरका परित्याग कर यह परीक्षा की कि क्या हमारे शरीरमें न रहनेसे यह उसी प्रकार कार्यक्षम (जीवित) रहेगा या नहीं ? पर इन्द्रियोंके निकल जानेपर प्राण-वायुके रहते-रहते शरीरकी 'जीवित' संज्ञा ही रही 'मृत' नहीं । अतः इसी अध्यायमें शरीरका त्याग कर प्राणोंके निकलनेका समय आया । सभी इन्द्रियाँ बेचैन हो गयीं और प्रार्थना करने लगीं—'**भगवन् ! एधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि, मोत्क्रमीरिति ।**' (५ । १ । १२) इस प्रकार प्राणका स्थान शरीरमें सबसे ऊँचा है ।

अब विचार यह करना है कि 'क्या प्राण-परित्यागसे शरीरकी मृत्यु और प्राणके रहते-रहते जीवन, बस, इतना ही सत्य और तत्त्व है या जीवन-मरण-व्यपदेशमें अन्य भी कोई तथ्य है ?' इस सम्बन्धमें नास्तिक और आस्तिक दो सम्प्रदाय सामने आते हैं । 'नास्तिक'का कहना है कि 'पृथिव्यादि पञ्चभूतोंके स्व-स्व मात्राके अनुसार मिल जानेपर एक शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे शरीरमें चैतन्यता आ जाती है । इन पाँच तत्त्वोंका आंशिक अथवा सर्वांश विघटन ही मृत्यु है । अतएव शरीरसे पूर्व कोई चैतन्य तत्त्व (जीव) नामकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होगी तथा न मृत्युके पश्चात् उस शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाला तत्त्व किसी लोक-लोकान्तर या किसी भी रूपान्तरमें अवशेष रहता है, जो शरीरद्वारा किये गये बुरे-भले कर्मोंका फल भोग करे, इसलिये आनन्दपूर्वक

इस शरीररूपी आत्माका किन्हीं भी सदसत् उपायोंद्वारा आप्यायन करते रहो और आनन्दसे जीवन बिताओ। 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः। ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।' इत्यादि उनका घण्टा-घोष है।'' इस स्थितिके अनुसार शरीरकी उत्पत्ति भी कामासक्त स्त्री-पुरुषोंके परस्पर देह-संघर्षके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकारके विचारवादियोंके लिये काम-तृप्ति सर्वत्र समान है।

अब 'आस्तिक' सम्प्रदाय आता है। वह नास्तिककी उपर्युक्त आंशिक युक्तियोंकी धज्जी उड़ा देता है कि 'यदि शरीरकी उत्पत्ति (जीवन) और विनाश (मृत्यु) का कोई परोक्ष कारण नहीं है तो सभी मनुष्य समान रूप, समान-शरीर, समान आयु और समान भोगवाले होने चाहिये थे। विषमताका क्या कारण है ?' समान रूपादिके सम्बन्धमें नास्तिक यह कहकर कपड़े छुड़ाना चाहता है कि 'किसी देशकी जलवायु, खान-पान और आर्थिक व्यवस्थाके ढाँचेके अनुसार रूप, आयु और अवस्था निर्भर करती है।' पर हम पूछते हैं कि जन्मसे अंधे, जन्मसे गूँगे और जन्मसे बहिरे क्यों उत्पन्न होते हैं ? यदि यह कहो कि इसमें माता-पिताका दूषित शुक्र और शोणित ही कारण है, तो पूछना होगा कि इससे पहलेके और बादके बच्चोंमें इस प्रकारका ऐन्द्रिय-दोष न होनेसे शुक्र-शोणितका दूषण कहाँ गया ? अतः यह अवश्य मानना होगा कि हमारे जीवन-मृत्युके साथ न केवल प्राणका संसर्ग है, अपितु और भी कोई इस प्रकारके तत्त्व अवश्य हैं, जो प्राणके सहचारी या प्राणानुगामी हैं। वह तत्त्व सम्भूय होकर जैसे इस शरीरको धारण करता है, ठीक उसी प्रकारसे शरीरान्तर-धारणकी क्षमता भी रखता है। जैसे इस भूलोकमें इस शरीरद्वारा रहता है, उसी प्रकार इस लोकमें देहान्तर और लोकान्तरमें शरीरान्तर प्राप्त करनेकी क्षमता भी रखता है। इसलिये—

> **चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः।**
> **चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते॥**
>
> (पञ्चदशी-द्वैत ११)

—के अनुसार लिङ्गशरीरकी कल्पनाका आधारभूत चैतन्य-अधिष्ठान, लिङ्गशरीर—पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि—ये सत्रह तत्त्व तथा इन सत्रह तत्त्वोंमें पड़ा हुआ चिदाभास—यह 'जीव' शब्दसे लिया जाता है। अतएव यह सत्रह तत्त्ववाला जीव कर्मानुसार शरीरान्तरमें गतागत करता रहता है। इस प्रकार अधिष्ठान-चैतन्य, लिङ्गदेह और चिदाभास—इनकी कभी मृत्यु नहीं होती और न इनका कभी जीवन होता है। इनसे युक्त शरीरका ग्रहण 'जन्म' और उस शरीरका त्याग ही 'मृत्यु' मानी जाती है। अतएव गीतामें—

> **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय**
> **नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।**
> **तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-**
> **न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥**
>
> (२। २२)

—कहा गया है। 'जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको उतारकर नवीन वस्त्र धारण करता है, ठीक उसी प्रकार यह जीव भी पुराने शरीरका त्यागकर नवीन देह धारण करता है।' पुराने वस्त्रके त्याग और ग्रहणमें भी कुछ निमित्त होता है। कोई उत्सव या अन्य हेतु होनेपर ही वस्त्रान्तर धारण किये जाते हैं। ठीक उसी प्रकार कर्मनिमित्तक ही देहान्तर-के धारण करनेका कारण होता है। इसीलिये छान्दोग्यो-पनिषद् (६। ८। ४)में **'सन्मूलाः सौम्य इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः'** कहकर सिद्ध किया गया है कि 'हे सौम्य ! इस समस्त संसारका मूल सत्तत्त्व है और इस सब प्रजाका एकमात्र सदधिष्ठान है और सब प्रजा सत्तत्त्वमें ही स्थित है।' इस प्रकार शरीरसे भिन्न, प्राणसे भिन्न तथा इन्द्रिय ग्रामसे भिन्न एक तत्त्व है, जो शरीरान्तरोंमें गतागत करता है और उसकी जीवन तथा मृत्यु—ये दो गतियाँ हैं।

यह तो एक अत्यन्त सामान्य और साधारण-सी बात है। पर इसमें भी आगे बहुत ही विचारणीय बात यह है कि आखिर वह तत्त्व, जो पूर्वोक्त तीन वस्तुओंका संघ है, वह कैसे मनुष्य और स्त्रीके शुक्र-शोणितमें पहुँचा, कहाँसे गया, कैसे गया इत्यादि। यह एक गम्भीर विचारधारा है। इसी प्रसङ्गको दृष्टिमें रखते हुए श्वेताश्वतर-उपनिषद्के आरम्भमें लिखते हैं—

> **किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता**
> **जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।**
> **अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु**
> **वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥**
>
> (श्वे० अ० १। १)

इसका उत्तर देते हुए आगे लिखा है—'काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत प्रभृति आत्म-संयोगसे शरीरके कारण होते हैं, केवल आत्मा इस सम्बन्धमें कारण नहीं माना जाता।'

जैसे उत्पत्स्यमान अङ्कुरके प्रति न केवल बीज कारण है, न केवल भूमि और न केवल कृषक—बीज, भूमि, कृषक, जल-वायुसे सभी समुदित होकर अङ्कुरके कारण बनते हैं, ठीक उसी प्रकार अन्नादि मेघद्वारा, शुक्र-शोणित अन्नद्वारा बननेपर जीव भी उन-उन पदार्थोंके द्वारा उन्हींमें ओतप्रोत हुआ जीवन-मरणके चक्करमें पड़ा रहता है। इस महाचक्रसे छुटकारा पानेके लिये जप, तप, ध्यान और समाधिका विधान शास्त्रोंमें बताया गया है। वह एक देव आत्मा या ब्रह्मपदवाच्य ऊर्णनाभि (मकड़ी) की भाँति अपने द्वारा उत्पन्न की गयी वस्तुओंसे ही अपनेको बाँध लेता है। ठीक उसी प्रकार यह आत्मारूपी दिव्य प्रकाशवाला देव अपने द्वारा उत्पन्न की गयी वस्तुओंसे अपनेको ही बाँध लेता है। यथा—

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः। देव एकः स्वमावृणोति। स नो दधातु ब्रह्माव्ययम्।

(श्वेताश्वतर० ६।१०)

इसी बातको और स्पष्ट करते हुए कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में लिखा है कि—'लोग इस संसारको छोड़कर परलोकमें जाते समय पहले चन्द्रमामें पहुँचते हैं। यदि उन जीवोंके कर्म तुरंत जन्म लेनेके योग्य होते हैं तो वे वर्षाद्वारा भूमिपर आ जाते हैं और जिस शरीरके उपयोगी उनके कर्म होते हैं, उन शरीरोंमें वे पहुँच जाते हैं। कोई कीड़े, पतंगे, पक्षी, सिंह; कोई मनुष्य, देव, गन्धर्व इत्यादि शरीरोंमें जन्म ग्रहण कर लेते हैं।'

इस प्रकार जीवन-मृत्युका शास्त्रोंमें बहुत विवेचन है। पर वस्तुस्थिति यह है कि वही एक तत्त्व ब्रह्म या आत्मा सर्वत्र है। कर्मानुसार उसीका देहान्तरमें प्रवेश-निवेश होता है। यह सब सत्-असत् कर्म-कलापका परिणाम है। वास्तवमें यदि आत्म-तत्त्वको ठीक समझ लिया जाय—मनन और निदिध्यासनद्वारा पूर्ण निष्ठा हो जाय तो जन्म देनेवाले कर्मोंकी समाप्ति हो जाती है। जब जन्म देनेवाले कर्म नहीं, तो मृत्यु कहाँसे। इसलिये वेदान्तियोंका यह डिण्डिम घोष है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

(आत्मोपनिषद् ३१)

पुनर्जन्मकी दृष्टिसे मानवका कर्तव्य

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधिपति जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य स्वामीजी श्रीचन्द्रशेखरेन्द्रसरस्वतीजी महाराज)

संसारमें सब जीव-जन्तु 'प्राणी' कहलाते हैं। जिनमें प्राण हैं, वे प्राणी हैं। सभी प्राणी सदा कुछ-न-कुछ काम करते ही रहते हैं। चींटी सदा इधर-उधर फिरती रहती है। कीड़े-मकोड़े भी कुछ-न-कुछ कार्य करते रहते हैं। पक्षी उड़ते या खाते-पीते रहते हैं। बुद्धिजीवी मानव अपने कार्यालयमें जाता है, वहाँ कुछ काम करता है। श्रमजीवी किसान खेती-बारीका काम करता है। मजदूर मजदूरी करता है। इस प्रकार मनुष्यमात्र विविध कामोंमें लगे रहते हैं। दुनियामें ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो बिना कुछ किये सर्वदा चुपचाप बैठा रहे। इसी बातको स्पष्ट करते हुए भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

(३।५)

'कोई भी क्षणभरके लिये भी बिना कुछ कर्म किये नहीं रहता।' इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव सदा कर्मरत रहता है। छोटे गाँवमें रहनेवालोंके काम कम रहते हैं, बड़े शहरोंमें रहनेवालोंको अनगिनत काम रहते हैं। अब सोचना यह है कि 'मानवको किसलिये सदा काम करते रहना पड़ता है?'

मानवको इसीलिये सदा कर्मरत रहना पड़ता है कि वह जीवनमें अनिष्ट दूर करना और सुखी रहना चाहता है और यह सुनिश्चित है कि मनुष्य तभी सुखी रह सकता है, जब वह किसी-न-किसी उपयोगी काममें लगा रहे। बेकाम रहना उसके लिये बड़ा दुःखदायक है। मनुष्यको काम करते रहनेके लिये अंदरसे सदा प्रेरणा मिलती रहती है। जैसे प्रत्येक जीवके अंदर 'भूख' नामक एक चीज है। वह भूख अपनी शान्तिके लिये प्रत्येक मनुष्यको काम करनेकी सदा प्रेरणा देती रहती है। यदि वह कोई काम नहीं करता है तो उसका पेट भूखकी ज्वालासे जलने लगता है। अतः इस 'भूख' नामक रोगके शमनके लिये दवाकी खोजमें मनुष्यको काम करना ही पड़ता है। शिरोवेदनाके लिये यदि हम कोई दवा लगा देते हैं, तो वह वेदना तुरंत मिट जाती है। कभी बहुत दिनोंके बाद फिर शायद आती है। पर यह भूख ऐसा रोग नहीं है। दूसरे रोगोंमें और इस रोगमें बड़ा अन्तर है। इस रोगके लिये तो प्रतिदिन, जब यह रोग

दिखायी दे, तभी दवा लेनी पड़ती है। जबतक इसकी दवा न हो जाय, तबतक दूसरा काम होना कठिन होता है। इसके लिये सभीको प्रयत्न करना पड़ता है। बाघ या सिंह हिरन या बैलको मारता है तो वह इसी रोगको दूर करनेके लिये। मनुष्य भाँति-भाँतिके वेष बनाकर, नाना प्रकारसे सब तरहकी बुद्धि लगाकर पैसे कमाता है, तो इसीके लिये। भूखे-भटकते मानवको यदि ढूँढ़नेपर कहीं दो मुट्ठी चावल मिल जाते हैं तो वह तुरंत उन्हें सिजाकर खा लेता है और बड़ा तृप्त होता है। यह काम भी उसका इसीलिये होता है। मनुष्यको जीवित रहनेके लिये काम करना ही चाहिये। वह एक क्षण भी निकम्मा नहीं रह सकता।

फिर यह बात भी है कि मनुष्य यदि कुछ भी काम न करे तो उसका शरीर बेकार बन जाता है। अतः दरिद्र-धनी सब काम करते हैं। बल्कि धनीको तो वस्तुतः मन-तनसे अधिक काम करना पड़ता है; क्योंकि उसको यह चिन्ता लगी रहती है कि उसके पैसे सुरक्षित रहने चाहिये। इस चिन्तासे उसका मन सदा काम करता रहता है। यह सत्य है कि एक उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणकी अपेक्षा लाखों-करोड़ोंवाला धनी बहुत अधिक काम करता है।

मनुष्यके द्वारा किये जानेवाले काम विभिन्न हेतुओंसे विभिन्न प्रकारके होते हैं। मनुष्य कुछ काम अपने शरीरके लिये और अपने सम्बन्धियोंके लिये करता है। उसको अपने बाल-बच्चे, स्त्री, माता-पिता आदि सम्बन्धियोंका संरक्षण तथा भरण-पोषण करना पड़ता है। अतः उनकी देख-भालके लिये उसे काम करना पड़ता है। तदनन्तर अपने बैल, गाय, कुत्ते, बिल्ली, घरके नौकर-चाकर, अपने खेतोंमें काम करनेवाले मजदूर आदिकी भी देख-भाल करनेके लिये कुछ काम करना पड़ता है। फिर मनुष्यके लिये ग्राम-समाजके सम्बन्धमें भी काम रहते हैं। जैसे घरवालेका कर्तव्य अपने घरको साफ-सुथरा तथा सुन्दर रखना है, वैसे ही गाँववालोंका कर्तव्य है कि वे अपने गाँवको साफ, स्वच्छ तथा सुन्दर रखें। जिस प्रकार मनुष्यके लिये अपने कुटुम्बका काम करना आवश्यक है, उसी प्रकार गाँवका काम करना भी प्रयोजनीय है। इसके पश्चात्, देशके तथा राष्ट्रके काम आते हैं। जिम्मेवार मनुष्य उन कामोंका सम्पादन भी करता ही है।

इस प्रकार विभाजित कामोंमें छोटे-बड़े सभी काम—दन्तधावन करना, कपड़े साफ करना, स्नान करना, भोजन करना आदि काम अपने निजके प्रयोजनके लिये किये जाते हैं। घर बनाना, उसको साफ रखना, घरमें आवश्यक चीजोंका संग्रह तथा रक्षण करना इत्यादि परिवार-सम्बन्धी काम हैं। नाले बनाना, कुएँ-तालाबोंका निर्माण तथा उनकी मरम्मत कराना, गाँवमें दवाखाना खोलकर रोगोंको दूर करनेके लिये प्रबन्ध करना और शिक्षालयोंकी स्थापना करना आदि ग्राम-समाजके काम हैं। देशभरकी भलाईके लिये अन्यान्य बहुत-से काम किये जाते हैं, जिनसे आजकलके लोग भलीभाँति परिचित हैं।

जो सशक्त हैं, वे अशक्तकी रक्षा करते हैं। मनुष्य अपने बच्चोंको उनकी छोटी अवस्थामें पाल-पोसकर बड़ा करता तथा योग्य बनाता है और बादमें अपनी वृद्धावस्थामें वह उनके द्वारा पाला-पोसा जाता है। यह सब काम बराबर चलते आ रहे हैं। यह स्वभाव केवल मनुष्य-समाजमें ही नहीं, परंतु पशु-पक्षियोंमें भी न्यूनाधिक रूपमें देखा जाता है।

सारी दुनियामें काम चलते रहते हैं। मनुष्य इन विभिन्न कामोंमें यथायोग्य भाग लेता है। बहुत-से लोग प्रधानतासे समाज-कल्याणके लिये विविध कार्य करते हैं, साथ ही अपना काम भी करते जाते हैं।

मानवके लिये साधारणतः तीन ही चीजें अत्यन्त आवश्यक हैं—(१) भूख मिटानेके लिये आहार, (२) धूप-सर्दी आदिसे अपनेको बचानेके तथा मान-संरक्षणके लिये वस्त्र और (३) विश्राम तथा निवास करनेके लिये घर। इनके अतिरिक्त जो चीजें वह एकत्र करता है, वे उसके बाल-बच्चोंके पालन-पोषण और उनके विवाह आदि तथा अन्यान्य सामाजिक, व्यक्तिगत आवश्यकताकी पूर्ति या संग्रहवृत्तिकी चरितार्थताके लिये करता है।

पहले भूखको रोगके रूपमें और भोजनको उसकी दवाके रूपमें बताया गया है। इसमें एक विशेषता है—

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात् प्राप्तेन संतुष्यताम्।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथावाक्यं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्॥

(भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य—साधनपञ्चकम्—४)

इस श्लोकमें भगवान् श्रीशंकराचार्यजी, 'क्षुधा नामक व्याधिको अन्नरूपी औषधसे दूर करो' यह आदेश देते

हैं। रोगी उतनी ही औषध खाता है, जितनी उसे अपना रोग दूर करनेके लिये पर्याप्त हो। अपनी रुचिके अनुसार दवाओंको मनमाने तौरपर लाकर नहीं खाता। वहाँ भी, जो दवा सस्तेमें मिलती है, उसीको खरीदकर खाता है। इस श्लोकका तात्पर्य है कि शरीर-धारण करनेके लिये साधारण भोजन ही पर्याप्त है।

इन आवश्यक चीजोंको उपलब्ध करनेके लिये जो काम किये जाते हैं, उनके अतिरिक्त मानवको दूसरे काम भी रहते हैं। कभी-कभी मानव मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर बनाता है; भस्म-रुद्राक्ष आदि धारण कर पूजा-पाठ करता है; संध्या-उपासना आदि कर्म करता है; भजन करता है। इसपर यह प्रश्न होता है कि 'इन कामोंसे क्या उसकी भूख मिटेगी? क्या उसे वस्त्र मिल जायगा और क्या रहनेके लिये घर प्राप्त हो जायगा?' मोटी दृष्टिसे देखनेपर तिलक धारण करना, मन्दिर बनाना, पितृ-श्राद्ध करना, पूजा-पाठ करना, अन्नदान करना आदि कर्म उपर्युक्त अत्यन्त आवश्यक चीजोंको उपलब्ध करनेके लिये नहीं किये जानेके कारण अनावश्यक मालूम होते हैं। परंतु मानव अनादिकालसे ऐसे काम भी करता आ रहा है। अतः हमें विचार करना चाहिये कि इनसे क्या लाभ होते हैं? मानव इनको क्यों करता है?

मनुष्यका स्वभाव है कि वह एक दिनके लिये भोजन मिल जानेपर उससे तृप्त नहीं होता। भविष्यके लिये भी आज ही कुछ चीजें इस विचारसे संग्रह करके अपने पास रखना चाहता और रखता है कि भविष्यमें यदि तकलीफ आयी तो उस समय उसका सामना करनेके लिये भी हमें तैयार रहना चाहिये। कुछ चीजें ऐसी हैं, जो पके अन्नकी तरह थोड़े समयके लिये ही उपयोगी रह सकती हैं। कुछ और चीजें हैं, जो और अधिक समयतक काममें आती हैं। जैसे गेहूँ, चावल आदि कच्चा अनाज। परंतु धन आदि ऐसी चीजें हैं, जो तरह-तरहके उपयोगके लिये काममें आती हैं और अधिक दिनोंतक सुविधासे रखी जा सकती हैं। बुद्धिमान् मनुष्य दीर्घकालतक रख सकने योग्य चीजोंको ही संग्रहके लिये चुनता है, न कि मूर्खकी तरह थोड़े दिन रहनेवाली चीजोंको। आत्मा अमर है। शरीरका ही जन्म-मरण है। इसलिये इस नित्य आत्माको सुखी रखनेके लिये जो काम करना आवश्यक तथा उचित है, उसीमें लगा रहना ही मनुष्यकी बुद्धिमानीका परिचायक है।

मान लीजिये, हम किसी पहाड़ीकी इस ओर रहते हैं। हमारे पास हजार रुपये हैं। यह पूरा धन पैसोंके सिक्केके रूपमें है। वहाँ चोर आते हैं। ऐसा भय लगा रहता है कि उनके और हमारे बीचमें झगड़ा होगा। परंतु यदि हम पहाड़ीके ऊपर चढ़कर उस पार चले जायँ तो यह भय नहीं रहेगा। उसी समय भाग्यवश कोई मनुष्य आकर पूछता कि 'क्या उन सिक्कोंके बदलेमें आप एक हजार रुपयेके नोट लेंगे?' तो हम क्या करेंगे? पैसोंकी गठरी उसे झट देकर नोट ले लेंगे और दौड़कर पहाड़ीके उस पार जाकर सुखी रहेंगे। परंतु, यहाँ एक शर्त है। वह यह है कि हमें जो नोट मिले हैं, वे पहाड़ीके उस पार भी चलनेवाले होने चाहिये। प्रत्येक जीवकी भी यही स्थिति है। अपनी शक्तिके अनुसार भविष्यके लिये जितना भी वह उपयोगी काम कर सकता है, उतना ही अच्छा है और वह उसीको करना चाहता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि 'हमें तो इस लोकमें सुखसे जीवित रहना है, भविष्यके बारेमें क्यों सोचना है?' इस सम्बन्धमें एक कहावत है—

'नास्ति चेन्नास्ति नो हानिरस्ति चेन्नास्तिको हतः।'

आस्तिक कहता है—'अभी अच्छे-अच्छे कर्म करो; क्योंकि इस जन्मके बाद दूसरा जन्म भी रहेगा, उस समय ये अच्छे कर्म काम आयेंगे।' नास्तिक बोलता है—'कौन निश्चितरूपसे यह कह सकता है, इस जन्मके बाद भी हम पुनर्जन्म लेंगे। अतः क्यों ऐसा करें?' पर यह सामान्य ज्ञानकी चीज है कि यदि अब हम अच्छे उपयोगी कर्मोंका संग्रह रखेंगे तो भविष्यमें वे लाभदायक होंगे। इससे यदि भावी जन्म है तो सत्कर्मसंग्रह करनेवाला आस्तिक लाभमें रहेगा और यदि भावी जन्म नहीं है तो उसकी कोई भी हानि नहीं हुई—उसने बुराई तो कुछ की ही नहीं। परंतु यदि भावी जन्म रहा तो सत्कर्म न करनेवाले नास्तिकको कष्ट होगा ही।

अतएव अच्छे कर्म करना सदा ही अच्छा है। यदि हम कहीं यात्रा करते हैं तो उस समय हमारा मन संतुष्ट रहना चाहिये। वैसे ही इस शरीरको छोड़कर कहीं दूसरी जगह जाते समय भी हमारा मन शान्त और संतुष्ट रहना चाहिये। उसके लिये यदि हम आवश्यक काम नहीं करेंगे तो बादमें हमें ही कष्ट होगा। इस दिशामें उपयुक्त कर्म क्या-क्या हैं—इसपर सोच-विचार करके मनुष्य उन्हें जान सकता

है। जो भी काम हम आज करते हैं, उनका फल इस जन्ममें नहीं मिला तो दूसरे जन्मोंमें अवश्य मिलना चाहिये। यह नियम आत्माके विषयमें अटल है। हमारे पूर्वजोंने न्यूटनके क्रिया-प्रतिक्रिया-नियम (Action-Reaction) को शताब्दियों पूर्व आत्मिक विषयमें भी प्रमाणित कर दिया था। हमारे शास्त्र इस बातकी घोषणा करते हैं कि किसी भी क्रियाकी प्रतिक्रिया अवश्य होती है।

क्रैस्तव (ईसाई) लोग जन्मान्तरको नहीं मानते हैं; परंतु उनकी कुछ बातोंसे पता चलता है कि वे अनजान होकर भी किसी-न-किसी रूपमें पुनर्जन्मको मानते हैं। वे कहते हैं कि 'शरीर-पतनके पश्चात् जीवात्माका न्याय-निर्णय भगवान्के समक्ष होता है और तब वह नरक या स्वर्गको भेजा जाता है। सुख-दुःखका अनुभव करनेवाला शरीर यद्यपि यहाँ पेटीमें पड़ा रहता है, फिर भी जीवको इस शरीरके साधनसे किये गये कर्मोंके कारण सुख या दुःख—स्वर्ग या नरकमें भोगना पड़ता है।' इसीको हम 'पुनर्जन्म' कहते हैं। उस देशमें (स्वर्ग या नरकमें) सुख-दुःख भोगनेके पहले उनके कारण जो कर्म थे, उनके लिये एक जन्म अवश्य था। इसी तर्कके अनुसार हम कह सकते हैं कि इस जन्मके सुख-दुःखके कारण इसके पहले जन्ममें किये गये कर्म हैं। इससे पुनर्जन्मवाद सिद्ध होता है।

पहले कहा गया है कि हमें सदा इस अमर आत्माको सुखी रखनेके लिये अधिक-से-अधिक सत्कर्म—अच्छे काम करने चाहिये। हमारे यहाँका नोट रूसमें नहीं चलता है। लेकिन कोई एक ऐसा राजा है, जो समस्त संसारका अधीश्वर है। उसका नोट कहीं भी चल सकता है। वह चतुर्दश भुवनोंका अधिप एक है और वह है—परमेश्वर। उसके सब राज्योंमें चलनेवाला एक नोट है। वह सदा सभी जगह चलेगा। वही है—'धर्म'।

श्रीरामचन्द्रजी वनगमनके पहले अपनी माताजीसे आज्ञा लेने जाते हैं। अपना प्रिय पुत्र जब यात्रामें दूसरे देशको जाता है, तब माता उसे मिठाइयाँ तथा और खानेकी चीजें बनाकर उसके साथ भेजती है, ताकि उसको मार्गमें कष्ट न हो। कौसल्याजी सोचती हैं कि चौदह वर्षके लिये वन जानेवाले मेरे प्रिय पुत्रके हाथमें क्या देकर भेजूँ! गम्भीर विचारके बाद कौसल्याजी श्रीरामसे कहती हैं—

यं पालयसि धर्मं त्वं धृत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥

(वाल्मीकिरामायण, अयोध्याकाण्ड २५। ३)

'राघव! तुम्हारी सुरक्षाके लिये मैं क्या करूँ? केवल धर्म ही निश्चय तुम्हारी रक्षा करेगा। तुम जिस धर्मका धैर्य और नियमके साथ पालन करते आ रहे हो, वही धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा। यही मेरा एकमात्र अनुग्रह है।' यह भी नियम प्रसिद्ध है कि यदि हम धर्मकी रक्षा और पालन करेंगे तो वह धर्म हमारा रक्षण तथा पालन करेगा—'**धर्मो रक्षति रक्षितः।**'

श्रीकौसल्याजीके कथनानुसार जो धर्म श्रीरामचन्द्रकी रक्षा करनेवाला था, वही धर्म परमेश्वरके अखण्ड चतुर्दश भुवन-राज्यमें चलनेवाला नोट है। अतः हमारे दूसरे कामोंके साथ-साथ हमें ऐसे भी काम अवश्य करने चाहिये, जो 'धर्म' कहलाते हैं और जिनका उल्लेख पहले मन्दिर बनाने, भगवान्की भक्ति करने, अन्नदान करने, सेवा-परोपकार करने इत्यादि 'अनावश्यक' कामोंके अन्तर्गत किया जा चुका है।

वास्तवमें जो भी कर्म ईश्वरार्पण-बुद्धिसे किया जाता है, वह धर्मके रूपमें परिणत हो जाता है और निरन्तर आनन्द देनेवाला होता है। अपने स्वार्थके लिये न होकर, दूसरोंकी भलाईके लिये, ईश्वरार्पण-भावनासे जो काम किया जाता है, वही 'धर्म' है। मन, वाणी और शरीर—इन तीनों कारणोंके द्वारा हमें ऐसे ही काम करने चाहिये जो धर्मके रूपमें परिणत हो जायँ। धर्मरूपी नोट किसी भी कालमें और किसी भी देशमें हमारे लिये उपयोगी और सुखदायक रहेगा। श्रीरामचन्द्रजीकी विपत्तियाँ बहुत बड़ी थीं। परंतु उनकी रक्षा इसी धर्मने की। धर्ममार्गमें रहनेवालेके सब (पशु-पक्षी भी) अनुकूल और सहायक बन जायँगे। इसके विपरीत अधर्म-मार्गमें रहनेवालेको सगा भाई भी छोड़ देगा। इस तथ्यको श्रीमद्रामायणमें हम देख सकते हैं—

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति॥

(अनर्घराघवनाटक १। ४)

'धर्ममार्गमें चलनेवाले रामचन्द्रजीका पशु-पक्षियोंने भी साथ दिया। अधर्ममार्गमें चलनेवाले रावणको सगे भाई विभीषणने भी छोड़ दिया।'

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यका परलोक और पुनर्जन्म-सिद्धान्त

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित निखिलमहीमण्डलैकदेशिक सर्व तन्त्र-स्वतन्त्र जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्री'श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)

श्रीमते सर्वविद्यानां प्रभवे प्रभविष्णवे।
आचार्याय मुनीन्द्राय निम्बार्काय नमो नमः॥

वेद-संहिता, ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद्, पुराण, स्मृति, सूत्र, महाभारत तथा रामायण आदि समस्त शास्त्रोंमें पुनर्जन्म और परलोकसम्बन्धी विशद विवेचनाएँ मिलती हैं। जहाँ-तहाँ जो शङ्कापरक वचन मिलते हैं, वे सब पूर्व-पक्षके रूपमें हैं। दर्शनोंमें चाहे आस्तिक हों या नास्तिक, केवल एक चार्वाक-दर्शनको छोड़कर सभी दर्शनकारोंने पुनर्जन्म और परलोकका समर्थन किया है।

स्थूलदेह विनश्वर है। इसके छहों भावविकारोंका प्रत्यक्ष अनुभव सभीको होता ही है।

'अस्ति जायते वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति।' यास्क मुनिकी यह उक्ति तथा **'सस्यमिव मर्त्यो जायते पच्यते च।'** नचिकेताका यह वचन अक्षरशः सत्य है। जो जन्मते हैं, बढ़ते हैं, वे विकृत और क्षीण होकर विनष्ट होते रहते हैं।

जीवात्मा अजर-अमर एवं अविनाशी है। उसे अपने अनादि कर्मोंके अनुसार शरीर प्राप्त होते हैं, उनके द्वारा वह शुभाशुभ कर्मोंके फलोंको भोगता है और पूर्वसंस्कारोंके अनुसार कर्म करता रहता है। समय पाकर उनका वियोग हो जाता है। इस प्रकार जबतक जीवोंके कर्म एवं उनके संस्कार बने रहते हैं, तबतक जन्म-मरणरूपी संसृति-चक्र चलता है। उन कर्मोंका क्षय भोगसे, ज्ञान एवं प्रभुकी पराभक्तिसे हो सकता है। पराभक्तिद्वारा प्रभुका साक्षात्कार होनेपर कर्मोंकी निवृत्ति एवं मुक्ति हो जाती है; फिर पुनर्जन्म नहीं होता, यही भगवान्का कथन है—

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।
(गीता ८। १६)

सभी शास्त्रोंका यही निष्कर्ष है और सभी शास्त्रीय विवेचक इस सम्बन्धमें एकमत हैं।

जीवात्मा अपने पूर्व स्थूल-शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरको इस प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार कोई जीवित व्यक्ति फटे हुए पुराने वस्त्रोंको त्यागकर नवीन वस्त्रोंको पहना करता है।[1] आत्मा वास्तवमें न कटता है, न जलता है, न सूखता है, न गलता ही है।[2]

जीवात्मा शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरमें प्रविष्ट होता है, अथवा पुनर्जन्मसे छुटकारा पाता है। इन दोनोंके दो मार्ग बतलाये गये हैं। पहलेको 'धूमयान' (कृष्णगति) कहा है और दूसरेको 'देवयान' (शुक्ल-गति) एवं अर्चिरादि मार्ग कहा गया है। वेद-उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें अर्चिरादि-मार्गके क्रमवर्णनमें जहाँ-तहाँ विभेद प्रतीत होता है, उन सबका समन्वय श्रीवेदव्यासजीने स्वरचित ब्रह्मसूत्रोंमें कर दिया है।[3] संक्षेपमें उसका निष्कर्ष यह कि भगवान्के परम भक्त एवं ज्ञानीजन अर्चिमार्गसे जाते हैं और वे मुक्त हो जाते हैं। उनके कर्मबन्धन समाप्त हो जाते हैं, अतः फिर उनका जन्म नहीं होता।

इष्टापूर्तादि सकाम कर्मोंमें निरत रहनेवाले जीव धूम मार्गसे जाते हैं और स्वर्गादि लोकोंमें पुण्यका फल भोगकर वापस लौट आते हैं। इसी प्रकार पापकर्म करनेवाले नरकादि भोगकर पुनः यहाँ जन्म ग्रहण करते हैं।

इन दोनों मार्गोंके अतिरिक्त तृतीय मार्ग क्षुद्र जन्तुओंका है, वह **"जायस्व म्रियस्व"**[4] अर्थात् प्रतिदिन जन्मना और मरना ही है उनका उत्क्रमण न देवयानसे होता है, न पितृयाणसे।

समस्त वेद-पुराणोंकी सारस्वरूप भगवद्गीतामें भी उपर्युक्त दोनों मार्गोंका संक्षेपमें उल्लेख मिलता है।[5] पुनर्जन्म और परलोकका वहाँ कई स्थलोंपर स्पष्टीकरण हुआ है। अर्जुनने कहा—'हे जनार्दन! जिनके कुलधर्मोंका ह्रास हो जाता है, उनका नरकलोकमें अनन्तकालतक वास होता है।' (गीता १। ४४) 'मुझे स्वर्गलोकके राज्यकी वाञ्छा नहीं है।' (गीता २। ८) भगवान्के भी ऐसे वाक्य हैं—

१. श्रीमद्भगवद्गीता २। २२। २. वही २। २३।
३. ब्रह्मसूत्र अ० ४। ४. छा० उप० ५। १०। ८।
५. गीता ८। २४-२५।

'जो यज्ञ आदि सत्कर्म नहीं करते, उन्हें इस लोकमें भी सुख नहीं मिलता; परलोकमें तो मिलेगा ही कैसे ?' (गीता ३ । ३२, ४ । ४०) 'अच्छे कर्म करनेवालोंकी इस लोकमें एवं परलोकमें भी दुर्गति नहीं होती ।' (गीता ६ । ४०) 'ब्रह्माके लोकतक पुनर्जन्मवाले लोक हैं ।' (गीता ८ । १६) 'पुण्य कर्मवाले इन्द्रलोकमें जाकर उनका फल भोगते हैं ।' (गीता ९ । २०) 'पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गलोकसे मृत्युलोकमें आते हैं । इस प्रकार सकाम कर्म करनेवालोंका आना-जाना बना ही रहता है ।' (गीता ९ । २१) 'देवताओंके आराधक देवलोकोंमें और पितरोंके आराधक पितृलोकोंमें जाते हैं ।' (गीता ९ । २५)

उपर्युक्त गीता-वाक्योंमें परलोकके साथ-साथ पुनर्जन्मका भी संकेत है । इनके अतिरिक्त निम्नाङ्कित वाक्योंमें और भी स्पष्टरूपेण पुनर्जन्मका उल्लेख है । 'जन्मे हुएकी मृत्यु और मरे हुएका जन्म अवश्य होता है ।' (गीता २ । २७) 'हे अर्जुन ! मेरा अनेक बार अवतार हुआ है । तेरे भी कई बार जन्म हो चुके; किंतु उनका तुझे स्मरण नहीं है ।' (गीता ४ । ५) 'योगभ्रष्ट व्यक्ति मृत्युके पश्चात् पवित्र सम्पत्तिवाले एवं योगियोंके घरमें जन्म लेता है ।' (गीता ६ । ४१) 'अनेकों जन्मोंतक अभ्यास करनेपर परम गति मिलती है ।' (गीता ६ । ४५ एवं ७ । १४)

कुछ व्यक्ति "अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते ।' (श्रीमद्भा० ३ । ३० । २९) कपिलदेवकी इस उक्तिके आधारपर नरक-स्वर्गादि परलोकोंका इसी मृत्युलोकमें अन्तर्भाव कर बैठते हैं । उन्हें इसके उत्तरार्ध वाक्यपर भी विचार करना चाहिये—

'या यातना वै नारक्यस्ता इहाप्युपलक्षिताः ।'

अर्थात् 'चोरी आदि पापकर्म करनेवालोंको जो यहाँ दण्डादि भोगने पड़ते हैं, वे उन नरकादि लोकोंकी यातनाओंके भी उपलक्षक हैं । अर्थात् जिस प्रकार पापियोंको दण्ड यहाँ मिलता है, उसी प्रकार परलोकोंमें उन्हें दण्ड भोगना पड़ता है ।'

राजा परीक्षितके पूछनेपर श्रीशुकदेवजीने भी यही कहा था कि 'भूलोकसे नीचेके लोक इस लोकसे भिन्न हैं ।' (श्रीमद्भा० ५ । २६ । ५) श्रीमद्भागवतमें एक स्थलपर नहीं, कई स्थलोंपर अतल आदि सात लोक भूलोकके नीचे और भुवः आदि छः लोक ऊपर बतलाकर चौदह लोकोंका एक 'ब्रह्माण्ड' बतलाया है । ऐसे अनेक ब्रह्माण्ड विराट् पुरुषमें समाये हुए हैं । इस सम्बन्धमें वेद-पुराण आदि सभी शास्त्र और उनके व्याख्याता एकमत हैं ।

आद्याचार्य भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यने भी ऐसा ही स्पष्टीकरण किया है—

"उत्क्रान्तलक्षणप्राणादिमाञ्जीवो हि सूक्ष्मभूतसम्परिष्वक्त एव देहं विहाय देहान्तरं गच्छति ।"

(ब्र० सू० ३ । १ । १की पारिजात-सौरभ)

अर्थात् 'जीवात्मा जब अपने पूर्व स्थूलशरीरको छोड़कर दूसरे स्थूलशरीरमें प्रवेश करता है, तब सूक्ष्मशरीरके साथ ही जाता है ।' इत्यादि वचनोंसे उनकी पुनर्जन्मसम्बन्धी मान्यता स्पष्ट होती है । पुनर्जन्मकी मान्यतासे परलोककी मान्यता यद्यपि स्वतःसिद्ध हो जाती है, तथापि उनकी रची हुई 'वेदान्तकामधेनु' (दशश्लोकी) के तृतीय श्लोकमें सूक्ष्मतया समस्त लोक-लोकान्तरोंका दिग्दर्शन भी कराया गया है । श्रीपुरुषोत्तमाचार्यकृत 'वेदान्तरत्नमञ्जूषा' (दशश्लोकी-भाष्य) आदि ग्रन्थ इस सम्बन्धमें द्रष्टव्य हैं ।

इसी सिद्धान्तका समर्थन श्रीनिम्बार्काचार्यके परवर्ती, श्रीनिवासाचार्य, श्रीदेवाचार्य, श्रीविलासाचार्य, श्रीसुन्दरभट्टाचार्य, श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य, श्रीहरिव्यास-देवाचार्य, श्रीपुरुषोत्तमप्रसाद, श्रीअनन्तराम आदि सभी आचार्य एवं विद्वान् ग्रन्थकारोंने किया है । शास्त्रीय वाक्योंके अतिरिक्त लौकिक युक्तियाँ और तर्कोंसे भी उन्होंने पुनर्जन्म और परलोककी सिद्धि की है । यह सिद्धान्त अनादि, अनन्त अतएव स्वाभाविक है । किसी भी तार्किकमें इसे हिलानेकी शक्ति नहीं है, चाहे वह कैसी भी आलोचना करता रहे ।

मृत्यु-मीमांसा

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित आचार्य श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज तर्कशिरोमणि)

'परलोक' और 'पुनर्जन्म' का माध्यम 'मृत्यु' है। एक लोकके रससे संचित विलक्षण शरीर-इन्द्रिय आदिका त्याग और अन्य लोकमें संचित विलक्षण शरीर-इन्द्रिय आदिका ग्रहण 'पुनर्जन्म' है। 'मृत्यु' के बिना ये दोनों अनुपपन्न हैं। अतः परलोक और पुनर्जन्मके जिज्ञासुओंको 'मृत्यु'के स्वरूपका ज्ञान भी परम आवश्यक है। 'मृत्यु'का स्वरूपज्ञान मोक्ष-कारण-सामग्रीमें भी अन्यतम है। अतः इस मिताक्षर लेखमें 'दैवत-मीमांसा' के आधारपर 'मृत्यु-मीमांसा' की जाती है।

'अथ मृत्युः कस्मात् ।'

अर्थात् 'मृत्युमें विद्यमान 'मृत्युत्व'का स्वरूप क्या है?' जिज्ञासाका समाधान कठ, कपिष्ठल, मैत्रायणी एवं तैत्तिरीय आदि संहिताओंमें उपलब्ध 'मृत्यु' शब्दके अर्थतः निर्वचन, शतपथ, गोपथ, जैमिनीय एवं ऐतरेय आदि विज्ञान-ग्रन्थोंमें उपलब्ध 'मृत्यु' शब्दके निर्वचन एवं शतबलाक्ष मौद्गल्य, आग्रायण, शाकपूणि एवं यास्क आदि नैरुक्तोंद्वारा अनुगृहीत 'मृत्यु' शब्दके निर्वचन कर रहे हैं। इनमें अथर्ववेदानुबन्धी 'गोपथब्राह्मणों'में उपलब्ध **'स समुद्रादमुच्यत। स मुच्युरभवत् । मुच्युरेव मृत्युः ।'** निर्वचन 'विशकलन'को मृत्युका 'मृत्युत्व' कह रहा है। नैरुक्त भगवान् यास्ककृत **'मारयति इति मृत्युः ।'** निर्वचन उच्छेदको 'मृत्युत्व' कह रहा है। नैरुक्त शतबलाक्ष मौद्गल्यकृत **'मृतं च्यावयति इति मृत्युः'** निर्वचन मृतभागके निरसनको 'मृत्युत्व' कह रहा है। नैरुक्त आग्रायणकृत **'मुञ्चति इति मृत्युः'** निर्वचन मोचनको 'मृत्युत्व' कह रहा है।

तो वह विशकलन, अवसान, उच्छेद, मोचन और च्यावन रूप धर्मोंका आश्रय (धर्मी) मृत्यु कौन है? जिज्ञासाके समाधानमें काठक, कपिष्ठल एवं मैत्रायणी आदि वैदिक शाखाएँ शतपथ, गोपथ, जैमिनीय एवं तैत्तिरीय आदि विज्ञान (ब्राह्मण) ग्रन्थ एवं आग्रायण, शतबलाक्ष मौद्गल्य, औदुम्बरायण और भगवान् यास्क आदि नैरुक्त प्रवृत्त हुए हैं। इनमें 'मैत्रायणी' शाखाका विज्ञान है—

(१) **अग्निर्वै मृत्युः ।**

'अग्नि मृत्यु है।'

माध्यन्दिन-शाखानुबन्धी 'शतपथ'का विज्ञान है—

(२) **संवत्सरो हि मृत्युः। एष हीदमहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति । अथ म्रियन्ते ।**

'संवत्सर मृत्यु है। यही दिन और रात्रिद्वारा आयुका क्षय करता है। इससे पदार्थोंकी आयु क्षीण होती है। आयुका क्षय मृत्यु है।'

'शतपथ ब्राह्मण'का पुनरपि विज्ञान है—

(३) **अवाङ् प्राणो वै मृत्युः ।**

'अवाङ्प्राण मृत्यु है।'

'जैमिनीय ब्राह्मण'का विज्ञान है—

(४) **अशनाया वै मृत्युः ।**

'बुभुक्षा मृत्यु है।'

'तैत्तिरीय ब्राह्मण'का विज्ञान है—

(५) **अपानान्मृत्युर्निर्भिद्यत ।**

'अपानसे मृत्युका प्राकट्य हुआ है।'

कण्व-शाखानुबन्धी 'शतपथ'का विज्ञान है—

(६) **छायामयः पुरुषो मृत्युः ।**

'छायामय पुरुष मृत्यु है।'

'शतपथ'का पुनरपि विज्ञान है—

(७) **श्रमो वै मृत्युः । आदित्यो मृत्युः ।**

'श्रम मृत्यु है। आदित्य भी मृत्यु है।'

कण्वशाखानुबन्धी 'शतपथ'का विज्ञान है—

(८) **प्राणो वै मृत्युः ।**

'प्राण मृत्यु है।'

पुनरपि 'शतपथ'का विज्ञान है—

(९) **आदित्यात्मना एको मृत्युः । प्राणात्मना बहवो मृत्यवः ।**

'सूर्यरूप एक मृत्यु है। प्राणरूपमें अनेक मृत्युएँ हैं।'

'मैत्रायणी शाखा'का विज्ञान है—

(१०) **एकशतं मृत्यवः ।**

'एक सौ एक मृत्यु हैं।'

'तैत्तिरीयशाखा'का विज्ञान है—

(११) **अमुमाहुः परं मृत्युं पवमानं तु मध्यमम् ।**
अग्निरेवावमो मृत्युश्चन्द्रमाश्चतुरुच्यते ॥

'सूर्य पर मृत्यु है। पवमान मध्यम मृत्यु है। अग्नि तृतीय मृत्यु है। चन्द्रमा चतुर्थ मृत्यु है।'

'शाङ्खायन ब्राह्मण'का विज्ञान है—

(१२) मृत्योर्ह वा एतौ वज्रबाहू यदहोरात्रे ।

'मृत्युके ये वज्ररूप हाथ हैं, जो दिन-रात हैं।'

'जैमिनीय ब्राह्मण'का विज्ञान है—

(१३) स यो ह स मृत्युरग्निरेव सः ।

'वह जो वह मृत्यु है, वह अग्नि ही है।'

पुनरपि 'जैमिनीय ब्राह्मण'का विज्ञान है—

(१४) अहोरात्रे मृत्यू ।

'दिन और रात्रि मृत्यु हैं।'

'जैमिनीय ब्राह्मण'का स्थलान्तरमें विज्ञान है—

(१५) अग्निवायुसूर्यचन्द्रमसा मृत्यवः ।

'अग्नि, वायु, सूर्य और चन्द्रमा—ये मृत्यु हैं।'

पुनरपि 'जैमिनीय ब्राह्मण'का विज्ञान है—

(१६) प्रजापतिर्वै मृत्युः ।

'प्रजापति ही मृत्यु है। उसका नाम प्रभूयान् है।'

मीमांसा

'कर्म-मीमांसा'में संदिग्ध वस्तुके निर्णयके लिये आविष्कृत न्याय-कलापोंके आधारपर इन सब निगम-वाक्यों तथा नैरुक्तोंके मतोंका समन्वय करके मृत्युके स्वरूपका 'इदमिदम्, इदमित्थम्, इदमियत्' रूपसे निर्णय किया जाता है।

'गोपथ-ब्राह्मण'में उपलब्ध **'स समुद्रादमुच्यत। स मुच्युरभवत्। मुच्युरेव मृत्युः।'** विज्ञानके अनुसार प्रत्येक पदार्थमें विद्यमान जीवनरूप अंशुओंका विशकलन 'मृत्यु' है। वह विशकलन अग्नि, वायु, सूर्य और सोमसे होता है। अतः 'मैत्रायणी संहिता'में विज्ञान प्रवृत्त हुआ है—**'अग्निर्वै मृत्युः।'** जैसे अग्नि प्रतिक्षण पदार्थोंको क्षीण करता है, वैसे वायु भी करता है। अतः 'जैमिनीय ब्राह्मण'में विज्ञान प्रवृत्त हुआ है—**'वायुर्वै मृत्युः।'** वायु दो प्रकारका है—याम्य (उष्ण) और सौम्य (शिव) वायु। इनमें यहाँपर 'वायु' शब्दसे याम्य वायुका ही ग्रहण होता है। कारण कि वही पदार्थोंके सौम्य-अंशुओं (अमृतमय आयुरूप अंशुओं) को प्रतिक्षण क्षीण करता रहता है। सौम्य वायु तो उनका रक्षक है, अतः याम्य वायु 'मृत्यु' है। सूर्य भी प्रतिक्षण पदार्थोंके अमृतमय कणोंको क्षीण करता रहता है। अतः 'जैमिनीय ब्राह्मण'में विज्ञान प्रवृत्त हुआ है—**'सूर्यो वै मृत्युः।'** चन्द्रमा भी अग्निका मृत्यु है। चन्द्रमा भी सूर्यरश्मियों और आग्नेय किरणोंकी मृत्यु है। अतः 'जैमिनीय ब्राह्मण'में विज्ञान प्रवृत्त हुआ है—**'चन्द्रमा वै मृत्युः।'** 'चन्द्रमा' शब्दसे यहाँपर जलका भी ग्रहण है। जल अग्निकी मृत्यु है। जैमिनीय ब्राह्मणमें इनके नामान्तर भी उपलब्ध हैं। अग्नि, वायु, सूर्य और चन्द्रमा-रूप मृत्युओंके क्रमशः 'रोहत्', 'अजिर', 'प्रोचत्' और 'अत्स्यत्'—ये नामान्तर हैं। इनमें उत्तम, मध्यम और अधम विभाग भी विज्ञान (ब्राह्मण) ग्रन्थोंमें उपलब्ध हैं। इस विषयमें 'तैत्तिरीय ब्राह्मण'का विवेचन है—

अमुमाहुः परं मृत्युं पवमानं तु मध्यमम् ।
अग्निरेवावमो मृत्युश्चन्द्रमाश्चतुरुच्यते ॥

सूर्यके दो रूप हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। इनमें बाह्य सूर्य है, आभ्यन्तर प्राणरूपमें प्राणियोंमें स्थित है। प्राणोंकी स्थिति भी सोम-अंशुओंपर ही विश्रान्त है। प्राण भी प्रतिक्षण सोमांशुरूप जीवनखण्डोंके क्षीण करनेसे 'मृत्यु' है, अतः 'शतपथ'में विज्ञान प्रवृत्त हुआ है—**'प्राणो वै मृत्युः।'** इनमें सूर्यरूपसे वह शरीरके बाहर व्याप्त है, प्राणरूपसे वह शरीरके भीतर व्याप्त है। इन दो रूपोंसे बाह्य और आभ्यन्तर स्थितिको ही वेदान्तोंमें 'अन्तर्व्याप्ति' और 'बहिर्व्याप्ति' कहा है। इस रहस्यको न जाननेके कारण कतिपय अज्ञजन परमात्माकी जीवात्मामें अन्तर्व्याप्ति है, अथवा बहिर्व्याप्ति है—इसको लेकर महान् कलहमें प्रवृत्त हैं। उनको ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें प्रतिपादित रहस्योंका यथार्थ ज्ञान न होनेसे वे आकल्प अज्ञान-पङ्कमें ही निमग्न रहेंगे। अग्नि, वायु और सूर्यद्वारा पदार्थनिष्ठ सोम-अंशुओंका प्रतिक्षण क्षय संवत्सरकी सहायतासे अहोरात्र-द्वारा ही होता रहता है। अतः 'शतपथब्राह्मण'में विज्ञान प्रवृत्त हुआ है **'संवत्सरो हि मृत्युः। एष हीदमहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति। अथ म्रियन्ते।'** श्रम भी अग्निरूप है। उससे भी अमृतरूप सोमकलाओंका क्षय होता है। अतः 'शतपथ'-में विज्ञान प्रवृत्त हुआ है—**'श्रमो वै मृत्युः।'** अतएव श्रमसे मनुष्य क्लान्त हो जाता है। वस्तुकी स्वस्वरूपमें स्थिति 'जीवन' है। उससे विच्युति 'मृत्यु' है। अशनाया (बुभुक्षा) से जीव स्वस्थितिसे च्युत हो जाता है। अतः 'शतपथ'में विज्ञान प्रवृत्त हुआ है—**'अशनाया वै मृत्युः।'** मृत्यु एक प्रकारका काला आग्नेय प्राण है। अतः काण्व 'शतपथब्राह्मण'में विज्ञान प्रवृत्त हुआ है—**'छायामयः पुरुषो**

मृत्युः ।' पुरुषका अर्थ वेदोंमें प्राण है । प्राङ् प्राण सूर्य है । अवाङ् प्राण अग्नि है । अग्नि मृत्यु है । अतः 'शतपथ' में विज्ञान प्रवृत्त हुआ है—'**अवाङ् प्राणो वै मृत्युः ।**' इस अवाङ् प्राणकी प्राणियोंके अपानमें स्थिति है । अतः 'तैत्तिरीय संहिता'में विज्ञान प्रवृत्त हुआ है—'**अपानो वै मृत्युः ।**' पदार्थ दो प्रकारके हैं—अमृत और मृत्यु । इनमें अमृत पदार्थोंका च्यावन नहीं हो सकता, कारण कि वे अमृत-धर्मा हैं । मृत पदार्थोंका ही अवाङ् प्राण च्यावन करता है । अतः नैरुक्त शतबलाक्ष मौद्गल्यने 'मृत्यु' शब्दका '**मृतं च्यावयति इति मृत्युः ।**' निर्वचन किया है । यहाँपर 'मृत' शब्दके अर्थमें मतभेद है । कतिपय विद्वान् क्षरणशील पदार्थोंको मृत मानते हैं । उनके मतमें क्षरणशील पदार्थोंके परमाणुओंका च्यावन करनेके कारण अवाङ् (पार्थिव) प्राण मृत्यु है । अन्य विद्वान् 'मृत' शब्दका प्राणहीन वस्तु अर्थ करते हैं । उनके मतमें प्राणहीन पृथिवी, जल और वायुओंका च्यावन मल-मूत्र और अपान-वायुके रूपमें अवाङ् प्राण करता रहता है । अतएव—'**मृतं प्राणहीनं वस्तु च्यावयति इति मृत्युः ।**' निर्वचनमें 'अपान-प्राण' 'मृत्यु' है । यह 'मृत्यु' सूर्यरूपसे एक है, प्रत्येक पदार्थमें प्राणरूपसे स्थित अनेक; अतः 'शतपथ'में विज्ञान प्रवृत्त हुआ है—

'**आदित्यात्मना एको मृत्युः, प्राणात्मना बहवो मृत्यवः ।**'

मृत्युके दिन और रात वज्रमय बाहु हैं, अतः 'शतपथ'में विज्ञान प्रवृत्त हुआ है—

'**मृत्योर्ह वा एतौ वज्रबाहू यदहोरात्रे ।**'

नैरुक्त भगवान् यास्ककृत '**मारयति इति मृत्युः**' निर्वचन उच्छेद, उत्क्रान्ति एवं अवसानको 'मृत्यु' कह रहा है; परंतु ये कार्य यमके भी यममीमांसाके द्वितीय अध्यायमें कहे गये हैं । परंतु प्रतिक्षण विनाश 'मृत्यु' है । सर्वथा उच्छेद 'यम' है ।

एक सौ एक मृत्युएँ

कठ, मैत्रायणी और कपिष्ठल आदि वेदकी शाखाओंमें एक सौ एक मृत्युओंका उल्लेख है । इनमें इन्द्रिय, वध, रोग, शोक और काम-क्रोध आदि सौ मृत्युएँ हैं । इनका प्रतीकार (चिकित्सा) है । परंतु उच्छेदरूप एक मृत्युका कोई प्रतीकार नहीं है । मनुष्योंके लिये अपनी नियत आयु-तक जीवित रहना अमृतत्व है ।

स्तुति-ऋचा

'निरुक्त'में भगवान् यास्कने 'मृत्यु'की स्तुतिमें '**तस्यैषा भवति**' निर्देश करके '**परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थाम्**' ऋचाको उद्धृत किया है । इसकी आनुपूर्वीके शरीरका गुम्फन इस रूपमें उपलब्ध है—

परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां
यस्ते स्व इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि
मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान् ॥

(ऋग्वेद १० । १८ । १)

अन्वय—

हे मृत्यो परम् पन्थाम् अनुपरेहि, यः ते देवयानात् इतरः स्वः पन्थाः । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि । नः प्रजाम् मा रीरिषः । उत वीरान् मा रीरिषः । इति प्रार्थयामः ।

भाष्यम्—

(**हे मृत्यो**) हे मृत्युरूप अग्निके अभिमानी देव ! (**त्वम्**) आप (**परम्**) अन्य (**पन्थाम्**) मार्गमें (**अनुपरेहि**) पधारें, (**यः**) जो मार्ग (**ते**) आपका (**देवयानात्**) देवयान-मार्गसे (**इतरः**) भिन्न (**स्वः**) अपना (**पन्थाः**) मार्ग है । (**अहम्**) मैं (**संकुसुकः**) संकुसुक-नामा ऋषि (**चक्षुष्मते**) चक्षुष्मान् और (**शृण्वते**) कर्णवान आपके उद्देश्यसे (**ब्रवीमि**) कहता हूँ कि (**नः**) हम सबकी (**प्रजाः**) प्रजाओंको (**मा**) मत (**रीरिषः**) क्षीण करें । (**उत**) और (**वीरान्**) वीरोंको भी (**मा**) मत (**रीरिषः**) क्षीण करें ।

विशेष—

देह-त्यागके अनन्तर लोकान्तरमें संचारको 'गति' कहते हैं । गतिके हेतु नियत देशको 'पथ' (मार्ग) कहते हैं । पितृयाण और देवयान भेदसे पथ दो प्रकारके हैं । दक्षिण-मार्ग, धूममार्ग, कृष्णमार्ग और पितृमार्ग—ये 'पितृयाण'के नामान्तर हैं । उत्तर-मार्ग, अर्चिमार्ग, शुक्लमार्ग और देवयान मार्ग—ये सब देवयानके नामान्तर हैं । देवयानकी दो शाखाएँ हैं—'देवपथ' और 'ब्रह्मपथ' । पितृयाणकी भी दो शाखाएँ हैं, 'यमपथ' और 'पितृपथ ।' उपर्युक्त ऋचामें देवयान पथसे भिन्न मृत्युका स्वपथ 'पितृपथ' विवक्षित है । देवयानसे भी यहाँ केवल 'ब्रह्मपथ' ही विवक्षित है—कारण कि देवयानके विभागोंमें केवल ब्रह्मपथमें ही मृत्युका संचार नहीं है । देवपथमें तो मृत्युका अपेक्षाकृत संचार है ।

ऋचामें 'संकुसुक' ऋषिने मृत्युके उद्देश्यसे 'चक्षुष्मते'

और 'भृण्वते' 'ब्रवीमि' कहा है। इससे अभिमानीरूप मृत्यु चेतन और सर्वेन्द्रियसम्पन्न है—यह सिद्ध हो रहा है। ऋचामें 'मृत्यु' शब्दसे 'पीहत्', 'अजिर', 'ध्रोचत्' और 'अत्स्यत्' आदि सब मृत्युओंका ग्रहण होता है।

आगम और पुराण—

विशुद्ध नैगमवचनोंसे मृत्युके स्वरूपका 'इदमिदम्', 'इदमित्थम्' और 'इदमियत्' रूपसे निश्चित किया गया है। आगमों और पुराणोंमें भी मृत्युके स्वरूपकी पुष्कल चर्चा है। उसका भी यत्किंचित् उल्लेख मृत्यु-स्वरूपके विशद ज्ञानके लिये किया जाता है।

तन्त्रोंमें 'वैखानस-आगम'का विज्ञान है कि अपानरूप इन्द्र नाभिमें रहकर मल-मूत्र और रेतका विसर्ग करता है। इन्द्रके छः प्रकारके शासनोंमें विक्षेप भी एक प्रकारका शासन है। विक्षेप अवाङ् प्राणका कार्य है। अवाङ् प्राण 'मृत्यु' है। 'ऐतरेय आरण्यक'का विज्ञान है—'मृत्युरपानो भूत्वा शिश्नं प्राविशत्।' 'मृत्यु प्राण, अपान (अवाङ् प्राण होकर शिश्नमें अवस्थित है।' उसका शुक्र और मूत्रका उत्सर्ग कार्य है। 'परशुराम-कल्पसूत्र'का विज्ञान है— मल-विसर्जक इन्द्रिय 'पायु' है। अपान प्राणके दो भाग हैं—'पायु' और 'अपान'। इनमें 'पायु'से मलका उत्सर्ग होता है। मूत्र और शुक्रका उत्सर्ग 'अपान'से होता है, जो शिश्नाश्रित है। ये दोनों अवाङ् प्राणरूप मृत्युके अवान्तर अवतार हैं। 'गर्भोपनिषद्'-का भी यही विज्ञान है—'अपानमुत्सर्गे।' पाञ्चरात्र-तन्त्रका विज्ञान है—'मृत्युका निःश्वास ही कृष्ण-आयस-समानाकार केतु है।'

पुराण

'विष्णुधर्मोत्तर' पुराणका विज्ञान है—'मृत्यु'की पुत्रियाँ 'भीरव' नामक 'अप्सराएँ' हैं। श्रीमद्भागवतका विज्ञान है—'जीवात्माकी लोकान्तरमें गमनकी इच्छासे नाभिद्वार उत्पन्न हुआ। उसकी देवता 'मृत्यु' है।' अपान इन्द्रिय और उसकी देवता मृत्यु दोनोंसे पृथक्त्व (अलग होना) कार्य उत्पन्न होता है।

दर्शन

'वैशेषिक दर्शन'में भगवान् कणादसे अनुगृहीत— 'उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनप्रसारणंगमनमिति कर्माणि।' —सूत्रमें परिगणित अवक्षेपणरूप कर्म अथवा उसका प्रवर्तक यन्त्र वेदमें 'मृत्यु' शब्दसे अभिहित है। कारण कि उत्सर्ग (अवक्षेपण) ही अवाङ् प्राणरूप मृत्युका भी कार्य (कर्म) है।

वेदज्ञोंके मत

वेदज्ञ विद्वानोंने भी मृत्यु-स्वरूपके विषयमें गहन और प्रकृति-सुन्दर विचार किया है। उनके मतोंका भी मृत्यु-स्वरूपविषयक ज्ञानकी विशदताके लिये उल्लेख किया जाता है। मतभेदोंसे आलोकित ज्ञानका स्वरूप दृढ और यथार्थ होता है। इनमें वेदज्ञ श्रीमधुसूदन झा महोदयका विज्ञान है—

> **स्थितिस्वभावं त्वमृतं स मृत्यु-**
> **र्गतिस्वभावः प्रथितस्ततोऽयम्।**
> **प्राणः स्वभावेन चलोऽस्ति मृत्यु-**
> **स्तस्मादसत् प्राण इति ब्रुवन्ति॥**

अर्थात् "विश्वमें 'रस' और 'बल' भेदसे दो पदार्थ हैं। स्थितिस्वभाव पदार्थ 'अमृत' है, अर्थात् वह रस अथवा ज्ञान है। गतिस्वभाव पदार्थ 'मृत्यु' है। वह प्राण अथवा बल है। प्राण स्वभावसे चल-स्वभाव है, अतः वह 'मृत्यु' है। इसलिये वेदोंमें प्राणको 'असत्' शब्दसे व्यवहृत किया है। प्राण बल है, वह कर्म है, अतः बल अथवा कर्म 'मृत्यु' हैं।"

'ब्रह्मसंधान' नामक ग्रन्थमें योगियोंका मत है—

> **शक्तिर्वसति पाताले ब्रह्माण्डे वसतीश्वरः।**
> **कालस्तदन्तरे ज्ञेयो जरा तस्मात् प्रजायते॥**

परमात्माकी 'इच्छा', 'ज्ञान' और 'प्राण'रूप—तीन शक्तियाँ हैं। इनमें इच्छा (शक्ति) पाताल (ब्रह्ममूल) में रहती है। ज्ञानरूप परमात्मा ब्रह्माण्ड (सिर)में निवास करते हैं। इन दोनोंके मध्य (हृदय) में काल (प्राण) निवास करता है। इस प्राणरूप कालसे प्राणियोंमें जरा (क्षीणता) आती है। प्रतिक्षण क्षीणता (क्षय) ही 'मृत्यु' है। अत्यन्त उच्छेद 'यम' है। प्रतिक्षण 'मृत्यु' जरा है।

अग्नि, सूर्य और प्राणरूप मृत्युसे कृत-पदार्थोंका प्रतिक्षण 'क्षय' ही भगवान् बुद्धके 'सर्वं क्षणिकम्' सिद्धान्तका मूल है। भगवान्‌का यह क्षणिक-सिद्धान्त मृत-पदार्थों (जड पदार्थों) की दृष्टिसे सर्वथा परिशुद्ध, यथार्थ और वैदिक है। किंतु मृत पदार्थोंमें एक अमृत पदार्थ भी अनुस्यूत है, जो क्षणिक (क्षण-विनाशी) न होनेसे अमृत है। केवल इसका अस्वीकार अवैदिक है, अर्थात्

प्रकृतिमें विद्यमान तत्त्वोंकी स्थितिसे विरुद्ध होनेसे भ्रान्त है। 'मृतं च्यावयति इति मृत्युः' निर्वचनसे प्रकट महिमा मृत्युका अमृत पदार्थपर प्रभाव नहीं है। पायुस्थ प्राण उदरमें मृत अन्न, जल और वायुके मृत भागोंका च्यावन (बहिःक्षेपण) करनेके कारण 'मृत्यु' शब्दसे अभिहित है; परंतु वैदिक विद्वानोंके मतमें चक्षुः, श्रोत्र आदिमें स्थित मल-भागके बहिःक्षेपणके कारण तत्स्थ प्राण भी 'मृत्यु' है।

मृत्युका उपयोग

अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवत-भेदसे तीन प्रकारके विश्वमें 'मृत्यु' प्राणका उपयोग (कार्य) पदार्थोंमें वैविध्य उत्पन्न करना है। यदि एक अमृत पदार्थ ही होता और मृत्यु पदार्थ न होता तो उस अवस्थामें एक ही पदार्थकी सत्ता रहती। पदार्थगत वैविध्य दृष्टिगोचर न होता। अमर समबल अग्नि और सोम अमर एक ही पदार्थ उत्पन्न कर सकते थे। मृत्युसे विषमबल ये दोनों नानाविध पदार्थोंको उत्पन्न करते हैं। अमृत और मृत्यु-भावमें प्रजापति (परमात्मा) की इच्छा ही कारण है। पदार्थगत वैविध्य ही इसके पृष्ठमें विद्यमान इच्छाका अनुमापक है। इच्छा मनके बिना अनुपपन्न है, अतः अर्थापत्ति प्रमाणसे वह मनकी अनुमापिका है। 'मन' भी मनस्वीके बिना अनुपपन्न है। वह मनस्वी (प्रजापति) का अनुमापक है। वह प्रजापति त्रिधातुमय है। मनः, प्राण और वाक्—उस मनस्वी प्रजापतिकी तीन धातुएँ हैं। इनमें 'वाक्' धातुमें वैषम्य (वैविध्य) 'प्राण' धातुसे आता है। यह प्राण ही मृत्यु पदार्थ है। प्राणमें वैविध्य 'मन' से आता है। इस प्रकार यह विश्वगत वैविध्य मृत्यु (प्राण) से उत्पन्न हुआ है। इससे विश्वमें 'मृत्यु'की मङ्गलरूपता भी सिद्ध होती है।

दो प्रकारका मृत्यु

मृत्यु दो प्रकारका है—एक सोमका मृत्यु, दूसरा अग्निका मृत्यु। इनमें सोमका मृत्यु 'यम' है। अग्निका मृत्यु 'आपः' (जल) है। इनको 'अशनाया' भी कहते हैं। यमरूप मृत्यु रूक्षस्वभाव और उष्ण है। यह स्नेहका यमन करके, अर्थात् स्नेहको आत्मसात् करके वस्तुको शिथिल-अवयव करके नष्ट कर देता है। अशनाया (बुभुक्षा)-रूप मृत्यु तो वस्तुओंका संहार करके, वस्तुके सब अवयवोंको उदरमें नियमन करके परिणामद्वारा उसको नष्ट करती है। एक वस्तुका विनाश ही दूसरी वस्तुका निर्माण है। इस प्रकार ये दोनों मृत्युएँ पदार्थगत वैविध्यके कारण होनेसे मङ्गलायतन हैं।

रसायन-शास्त्र

'रसायन' शास्त्रका उपयोग हमने यहाँ देवताओंके वर्णों (रंगों) के विश्लेषणमें किया है। वेदोंमें वर्णभेदका कारण सौर, आग्नेय, वायव्य और पार्थिव रश्मियोंके भिन्न-भिन्न सम्मिश्रण हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण'में मृत्युका रंग 'कृष्ण' माना गया है। काले रंगमें किसी भी सौर रश्मिकी जागृति नहीं है। कृष्ण वर्ण यों केवल विशुद्ध पार्थिव किरणोंसे युक्त आग्नेय रश्मियाँ ही हैं।

'मृत्यु'की मूर्ति

वस्तुमात्रमें विद्यमान वस्तुगत अवयवोंके प्रतिक्षण विशरणके कारण आग्नेय प्राणविशेष 'मृत्यु' है। उसकी मूर्तिका निर्माण उसके विशुद्ध ज्ञान और उसकी उपासनाके लिये निदान-शास्त्रके संकेतोंके आधारपर श्रीमुम्मडि कृष्णराज ओडयारने 'श्रीतत्त्वनिधि' ग्रन्थमें शैवागमके आधारपर इस रूपमें विहित किया है—

पाशखड्गाङ्कुशगदाभासमानकराम्बुजम्।
गीर्वाणगणवन्द्याङ्घ्रिं मृत्युं महिषवाहनम्॥

'मृत्यु महिषवाहन है। वह देवसमूहद्वारा पूज्य-मान-चरणकमल है। यह चतुर्भुज है। उसमें पाश, खड्ग, अंकुश और गदा ये अस्त्र हैं।'

निदान-रहस्य

मृत्युका वाहन 'महिष' मोहका निदान-सूचक है। मोहका यहाँ दूसरा नाम 'मरण' है। देवसमूहके द्वारा उसके श्रीचरणोंका वन्दन प्राणोंके अनेक परिणामोंका निदान है। अर्थात् मृत्यु प्राणोंमें अनेक परिवर्तनोंसे उनमें वैविध्य लाता है। उसके चार हाथ चारों दिशाओंमें उसकी व्याप्तिके संकेत हैं। उनमें विद्यमान पाश, खड्ग, अंकुश और गदा मृत्युके द्वारा प्रतिक्षण क्रियमाण क्षयके संकेत हैं। पाश आदि सब विनाशके सूचक हैं।

प्रतिभट

'मृत्यु' का प्रतिभट अमृत (सोम) है। यमके साथ इसका विनाशमें साधर्म्य है। प्रतिक्षण विनाश और अत्यन्त उच्छेद—यह यम और मृत्युमें वैधर्म्य भी है।

वंश

'मृत्यु'के वंशके विषयमें वेदज्ञोंका मत है कि विश्वके मूलमें परस्पर-विरुद्धस्वभाव 'रस' और 'बल' नामक दो तत्त्व हैं। 'रस' और 'बल' के परिणाम 'अमृत' और 'मृत्यु' हैं। अमृत और मृत्युके परिणाम 'स्थिति' और 'गति' हैं। इस परम्परासे मृत्यु 'बल' तत्त्वका अंश है।

मृत्युके तीन विवर्त

अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवत-भेदसे 'मृत्यु' के तीन विवर्त हैं। इनमें विष, सर्प और वृश्चिक आदि 'अधिभूत मृत्यु' हैं। प्राण 'अध्यात्म मृत्यु' है। काम, क्रोध, लोभ आदि भी 'अध्यात्म मृत्यु' हैं। अग्नि, सूर्य, वायु और चन्द्रमा आदि 'अधिदैवत मृत्यु' हैं।

मृत्युके तीन रूप

भूतरूप, प्राणरूप और अभिमानीरूप भेदसे मृत्युके तीन रूप हैं। इनमें अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा और प्रतिवस्तुमें विद्यमान प्राण 'भूतविध मृत्यु' है। इनमें विद्यमान 'प्राण' 'प्राणविध मृत्यु' है। इन सब प्राणोंमें विद्यमान 'चेतना धातु' (अहंकार) 'अभिमानीरूप मृत्यु है।' जो 'मैं मृत्यु हूँ'—यह अभिमान करता है, वह 'अभिमानी रूप मृत्यु' है। यह चेतनामय और सर्वेन्द्रिय-शक्तिमय है। इसके उद्देश्यसे ही ऋषि संकुसुक ने 'चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि' कहा है।

इस प्रकार मृत्युकी यह मीमांसा वेदके आधारपर की गयी है। इसके स्वरूपका ज्ञान 'परलोक और पुनर्जन्म' के जिज्ञासुओंको परम आवश्यक है। श्रीगीताचार्यने इस मृत्युके लिये ही 'तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।' कहा है। उनकी कृपासे उससे अतितरण हो—यह कामना है।

परलोक और पुनर्जन्मका सत्य सिद्धान्त

(लेखक—परमपूज्य गुरुजी—श्रीमाधव सदाशिव गोळवलकर)

भौतिक जगत्में यह नियम सब लोग जानते हैं कि प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया अनिवार्यतः होती है। मनुष्य-जगत्में प्रत्यक्ष रूपसे यह अनुभव होता है। जो जैसा करेगा, वैसा उसे भोगना पड़ेगा। प्रत्येक कर्मका तदनुरूप फल भोगना ही होता है। प्रत्यक्षमें हम यह देख सकते हैं कि कोई व्यक्ति यदि मद्यपान करे तो वह उन्मत्त होकर, स्मृति-ज्ञान नष्ट होनेके कारण असम्बद्ध बोलता है, लड़खड़ाते चलता है, न करने योग्य कार्य करता है, अनेक बार गंदगीमें लोटता रहता है। कार्यका फलभोग इस प्रकार प्रत्यक्ष देखनेमें आता है।

कई प्रकारके कर्मोंका परिणाम तुरंत हाथोंहाथ मिल जाता है। किंतु अनेक कर्म ऐसे होते हैं कि जिनका फल कालान्तरमें—किन्हीं-किन्हींका बहुत कालके पश्चात् दिखायी देता है। मनुष्य-जीवनमें प्रतिदिन अनेक प्रकारके कर्म होते रहते हैं। शरीरसे, वाणीसे, मनसे कर्मयोनि मनुष्य निरन्तर कर्म करता ही रहता है। कर्मके बिना एक क्षण भी वह रह नहीं सकता—'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।' यह वचन प्रत्यक्ष अनुभवका है। इन असंख्य कर्मोंमेंसे कुछ सद्यःफलदायी, कुछ विलम्बसे परंतु इसी जीवनमें फल देनेवाले होते हैं। तथापि अनेक कर्मोंका परिणाम फलभोगरूपमें इसी जन्ममें अनुभवमें नहीं आता। जीवनकी समाप्तिके साथ सारे कर्म भी समाप्त हो जाते हैं—यह बात अशास्त्रीय एवं अनुभवविरुद्ध है; क्योंकि कर्म कभी निष्फल नहीं हो सकता। यह सर्वमान्य सत्य सिद्धान्त है। फिर इन अभुक्त कर्मोंका फलभोग जीव कब कर सकता है?

भिन्न-भिन्न धर्मोंमें विभिन्न प्रकारसे इस प्रश्नको समाधान करनेका प्रयत्न किया गया है। ईसाई, इस्लाम आदि मतोंके अनुसार 'जगत्के अन्तमें ईश्वर सब जीवोंके कर्मोंका निर्णय कर शुभकर्मवालोंको स्वर्गमें और अशुभ-कर्मवालोंको नरकमें उन कर्मोंसे प्राप्त भोग भोगनेके लिये भेज देता है।' परंतु यह विचार युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। एक छोटे-से जन्ममें किये हुए कर्मका भोग चिरकालतक करना पड़े—यह तो अन्याय है। फिर, न्याय-दानमें इतना प्रदीर्घ विलम्ब होना भी अयुक्त ही कहा जा सकता है। भूल सुधारकर जीवनको सुयोग्य, सुसंस्कृत तथा उच्च बनानेका अवसर सामान्य जीवनमें भी दिया जाना योग्य माना जाता है। भगवान्‌के राज्यमें ऐसे अवसरका न

मिलना, यह बात भगवान्‌की न्यायप्रियता तथा उनके कारुण्यसे विसङ्गत है।

अपने सनातनधर्ममें इसका समाधान विचार तथा अनुभवके अनुरूप किया गया है। जिस जीवने जो कर्म किये हों, उनका फल भोगनेके लिये अन्यान्य लोक हैं, जिनमें वह अपने शुभाशुभ कर्मोंके फलोंका भोग करता है तथा कुछ कर्मोंके फलभोगके लिये इसी मर्त्यलोकमें पुनः विभिन्न योनियोंमें जन्म ग्रहणकर फल भोगता है और मनुष्य बनकर अपनी उन्नति करनेका अवसर बार बार प्राप्त करता है और क्रमशः अपने सब कर्मोंको भोगकर उनका क्षय करता हुआ, अन्ततोगत्वा पूर्ण सुखशान्तिरूप मुक्ति प्राप्त करता है। अपने शास्त्रोंने इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार परलोक तथा इहलोकमें पुनर्जन्मका विचार केवल तर्क अथवा अनुमानमात्र प्रतीत हो सकता है, किंतु हमारे पूर्वजोंने प्रखर तपस्याके बलपर दिव्य दृष्टि प्राप्तकर इन सत्योंका साक्षात् ज्ञान प्राप्त किया था। केवल तर्क या अनुमानके आधारपर परलोकोंके अस्तित्व तथा पुनर्जन्म-ग्रहणकी वास्तविकताका उन्होंने प्रतिपादन नहीं किया, अपितु प्रत्यक्ष ज्ञानके बलपर इसका उद्घोष किया।

अनेकों व्यक्तियोंका जन्मसे ही अलौकिक प्रतिभासम्पन्न होना, कुछ अबोध बालकोंको पूर्वजन्मके स्थान, परिवारस्थ जन इत्यादिका आश्चर्यचकित करनेवाला ज्ञान सप्रमाण प्रकट करते हुए दिखायी देना ऐसे अनेक उदाहरण प्रमाणभूत होकर उपस्थित होते हैं। अब विगत कुछ कालमें इन बातोंपर विश्वास न रखनेवाले पश्चिमीय देशोंके विद्वानोंमें भी परलोकविद्याका अध्ययन करनेकी प्रवृत्ति बढ़ी है और धीरे-धीरे वे परलोक तथा पुनर्जन्मके सत्यको पहचाननेकी तथा माननेकी ओर झुक रहे हैं। जिन धर्ममतोंका अवलम्बन उन्होंने किया है, उनका समर्थन न होनेसे अभी उनमें पर्याप्त झिझक है। तथापि सत्यान्वेषणकी अन्तःप्रेरणा उन्हें इस सत्यका साक्षात्कार करनेके मार्गपर अग्रसर कर रही है।

वैसे सूक्ष्मदृष्टिसे अध्ययन करनेपर ईसाई धर्मग्रन्थ 'पवित्र बाइबल'में भगवान् ईसाके ही मुखारविन्दसे प्रकट हुए शब्दोंसे यह जाना जा सकता है कि भगवान् ईसाने स्थानीय परिस्थिति तथा मान्यताओंके होते हुए, स्थानीय परिभाषाके ही माध्यमसे भारतीय क्रान्तिदर्शी ऋषियोंके सत्य सिद्धान्तको ही समझानेका प्रयास किया है; किंतु शुद्ध दृष्टिसे इसका अध्ययन करना आवश्यक है।

परलोक तथा पुनर्जन्मके सिद्धान्तके कारण प्रत्येक व्यक्ति यह समझ सकता है कि उसका सुख-दुःख, श्रेष्ठत्व-कनिष्ठत्व, सद्‌गुणोंका अभाव आदि सब उसीके पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्मोंके परिणाम हैं और इस जन्ममें यदि वह अपने कर्मोंमें सुधार कर ले तो इसी जन्ममे वह अधिक श्रेष्ठ एवं सुखी बन सकता है और उसे यह भी विश्वास होता है कि जीवनका चरम लक्ष्य—मोक्ष, इस एक जन्ममें न भी प्राप्त हो तो भी, उसके लिये उचित प्रयत्नोंमें रत रहनेसे आनेवाले जन्मोंमें वह अपनेको मोक्षके लिये अधिकाधिक योग्य बनाकर, अन्तमें जीवन मरणके सब सुख दुःखोंसे छूट-कर अपनी नित्य शुद्ध बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्द-स्थितिमें स्थिर हो सकता है। धन्य हो सकता है।

श्रेष्ठ कर्मप्रेरणा देनेवाले, मनुष्यमात्रके पौरुषको आवाहन करनेवाले इस सत्यको हृदयङ्गम करना मनुष्यके कल्याणके लिये परम आवश्यक है। आज इसके सम्बन्धमें कुछ भ्रम फैले हैं और निष्क्रियताको पनपानेवाला दैववाद लोगोंकी बुद्धिपर चढ़ बैठा है। उससे अपनेको छुटकारा दिलाकर, विशुद्ध कर्मसिद्धान्त, तदङ्गभूत परलोक तथा पुनर्जन्मके सत्य सिद्धान्तोंको समझकर सत्कर्ममें प्रवृत्त होना, निरन्तर उद्यमशील रहना तथा परिणामस्वरूप इहलोकमें वैयक्तिक एवं सामूहिक उत्कर्षकी प्राप्तिके साथ मुक्तिमार्ग पर अग्रसर होकर मनुष्यजीवन सार्थक करना आवश्यक है। यही धर्म है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

(वैशेषिक)

अपने महान् सनातनधर्ममें* उद्घटित इन महान् सत्योंको जीवनमें उतारकर अपने समाजके सब व्यक्ति उत्तरोत्तर श्रेष्ठ शुद्ध जीवनके चलते-बोलते आदर्श बनें और सम्पूर्ण मानवजातिके सन्मार्ग-पथप्रदर्शक बनें। यही समयकी माँग है। इति शम्

---

* 'सनातनधर्म' शब्दप्रयोगसे यहाँ भारतीय परम्परामें उत्पन्न सभी पन्थ-सम्प्रदाय आदि सब मत-मतान्तरोंका समावेश समझना चाहिये।

ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके परलोक तथा पुनर्जन्म-सम्बन्धी विचार

(पुराने लेखोंसे संकलित)

आत्माकी उन्नति तथा जगत्में धार्मिक भाव, सुख-शान्ति एवं प्रेमके विस्तारके लिये और पाप-तापसे बचनेके लिये परलोक एवं पुनर्जन्मको मानना परम आवश्यक है।

आज संसारमें जो पापोंकी वृद्धि हो रही है—झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार एवं अनाचार बढ़ रहे हैं, व्यक्तियोंकी भाँति राष्ट्रोंमें भी परस्पर द्वेष और कलहकी वृद्धि हो रही है, बलवान् दुर्बलोंको सता रहे हैं, लोग नीति और धर्मके मार्गको छोड़कर अनीति और अधर्मके मार्गपर आरूढ़ हो रहे हैं, लौकिक उन्नति और भौतिक सुखको ही लोगोंने अपना ध्येय बना लिया है और उसीकी प्राप्तिके लिये सब लोग यत्नवान् हैं, विलासिता और इन्द्रियलोलुपता बढ़ती जा रही है, भक्ष्याभक्ष्यका विचार उठता जा रहा है, जीभके स्वाद और शरीरके आरामके लिये दूसरोंके कष्टकी तनिक भी परवा नहीं की जाती, मादक द्रव्योंका प्रचार बढ़ रहा है, बेईमानी और घूसखोरी उन्नतिपर है, एक दूसरेके प्रति लोगोंका विश्वास कम होता जा रहा है, मुकदमेबाजी बढ़ रही है, अपराधोंकी संख्या बढ़ती जा रही है, असंतोष-असहिष्णुता इतनी बढ़ गयी है कि बात-बातपर लोग आत्महत्या करने लगे हैं और आत्महत्याओंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। दम्भ और पाखण्डकी वृद्धि हो रही है—इन सबका कारण यही है कि आत्माकी अमरता तथा परलोकमें विश्वास नहीं है और लोगोंने वर्तमान जीवनको ही अपना जीवन मान लिया है; इसके आगे भी कोई जीवन है, इसका कोई ख्याल ही नहीं है। इसीलिये वे वर्तमान जीवनको ही सुखी बनानेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं। 'जबतक जियो, सुखसे जियो; ऋण लेकर भी अच्छे-अच्छे पदार्थोंका उपभोग करो। मरनेके बाद क्या होगा, किसने देख रक्खा है*।' —इसी सर्वनाशकारी मान्यताकी ओर आज प्रायः संसार जा रहा है। यही कारण है कि वह सुखके बदले अधिकाधिक दुःखमें ही फँसता जा रहा है। परलोक और पुनर्जन्मको न माननेका यह अवश्यम्भावी फल है।

* यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
(चार्वाक)

इस परलोक और पुनर्जन्मके सिद्धान्तका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे हमारे सभी शास्त्रोंने समर्थन किया है। वेदोंसे लेकर आधुनिक दार्शनिक ग्रन्थोंतक सभीने एक स्वरसे इस सिद्धान्तकी पुष्टि की है। कठोपनिषद्का नचिकेतोपाख्यान तो इस सिद्धान्तका जीता-जागता प्रमाण है। नचिकेता और यमराजके बीच जो संवाद हुआ है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यमराजने उसे तीन वर देनेको कहा। उनमेंसे तीसरा वर माँगता हुआ नचिकेता यमराजसे यह प्रश्न करता है।

'मरे हुए मनुष्यके विषयमें जो यह शङ्का है कि कोई तो कहते हैं मरनेके अनन्तर 'आत्मा रहता है' और कोई कहते हैं 'नहीं रहता'—इस सम्बन्धमें मैं आपसे उपदेश चाहता हूँ, जिससे मैं इस विषयका ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। मेरे माँगे हुए वरोंमें यह तीसरा वर है।' (१।१।२०)

यमराजने अधिकारी-परीक्षाके लिये इस विषयको टालना चाहा और नचिकेताको मनुष्यलोकके बहुत बड़े-बड़े अति दुर्लभ भोगोंका प्रलोभन दिया, परंतु नचिकेता अपने निश्चयसे नहीं टला। नचिकेताके इस आदर्श निष्कामभाव और दृढ़ निश्चयको देखकर यमराज बहुत प्रसन्न हुए और उसकी प्रशंसा करते हुए बोले—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(१।२।६)

'जो मूर्ख धनके मोहसे अंधे होकर प्रमादमें लगे रहते हैं, उन्हें परलोकका साधन नहीं सूझता। यही लोक है, परलोक नहीं है—ऐसा माननेवाला मनुष्य बारंबार मेरे चंगुलमें फँसता है (जन्मता और मरता है)।'

इसके पश्चात् यमराज उसे आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें उपदेश देते हुए कहते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(१ । २ । १८)

'यह नित्य चिन्मय आत्मा न जन्मता है, न मरता है; यह न तो किसी वस्तुसे उत्पन्न हुआ है और न स्वयं ही कुछ बना है (अर्थात् न तो यह किसीका कार्य है, न कारण है; न विकार है, न विकारी है) । यह अजन्मा, नित्य (सदासे वर्तमान अनादि), शाश्वत (सदा रहनेवाला, अनन्त) और पुरातन है तथा शरीरके विनाश किये जानेपर भी नष्ट नहीं होता ।'

उपर्युक्त वर्णनसे आत्माकी अमरता सिद्ध होती है ।

आगे चलकर यमराज उन मनुष्योंकी गति बतलाते हैं, जो आत्माको बिना जाने हुए ही मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥
(२ । २ । ७)

'अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर धारण करनेके लिये किसी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनिको प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावर-भाव (वृक्षादि योनि) को प्राप्त होते हैं ।'

ऊपरके मन्त्रसे भी पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है ।

गीतामें भी परलोक और पुनर्जन्मका प्रतिपादन करनेवाले अनेक वचन मिलते हैं । दूसरे अध्यायमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥
(२ । १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
(२ । १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता ।'

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(२ । २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता ।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(२ । २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ।'

चौथे अध्यायके ५ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—'परंतप अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, किंतु मैं जानता हूँ ।' गीतामें स्वर्गादि लोकोंका भी कई जगह उल्लेख आता है । पुनर्जन्म, परलोक, आवृत्ति-अनावृत्ति, गतागत (गमनागमन) आदि शब्द भी कई जगह आये हैं । छठे अध्यायके ४१-४२ वें श्लोकोंमें योगभ्रष्ट पुरुषके दीर्घकालतक स्वर्गादि लोकोंमें निवासकर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें अथवा ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेनेकी बात आयी है तथा ४५वें श्लोकमें अनेक जन्मोंकी बात भी आयी है । इसी प्रकार १३वें अध्यायके २१वें श्लोकमें पुरुषके सत्-असत् योनियोंमें जन्म लेनेकी बात कही गयी है । १४वें अध्यायके १४-१५ तथा १८वें श्लोकोंमें गुणोंके अनुसार मनुष्यके उच्च, मध्य तथा अधो-गतिको प्राप्त होनेकी बात आयी है तथा १५वें अध्यायके ७-८वें श्लोकोंमें एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेका स्पष्टरूपमें उल्लेख हुआ है । १६वें अध्यायके १६, १९ और २०वें श्लोकोंमें भगवान्ने आसुरी सम्पदावालोंको बारंबार तिर्यग्योनियों और नरकमें गिरानेकी बात कही है । इन सब प्रसङ्गोंसे भी पुनर्जन्म और परलोककी पुष्टि होती है ।

योगसूत्रमें भी पुनर्जन्मका विषय आया है । महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।
(साधन० १२)

'क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—मृत्युभय) जिनकी जड़ हैं, वे कर्माशय (कर्मोंकी वासनाएँ) वर्तमान अथवा आगेके जन्मोंमें भोगे जा सकते हैं ।'

उन वासनाओंका फल किस रूपमें मिलता है, इसके विषयमें महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।
(साधन० १३)

'क्लेशरूपी कारणके रहते हुए उन वासनाओंका फल जाति (योनि), आयु (जीवनकी अवधि) और भोग (सुख-दुःख) होते हैं ।'

मनुस्मृतिमें भी पुनर्जन्मके प्रतिपादक बहुत-से वचन मिलते हैं । किन-किन कर्मोंसे जीव किन-किन योनियोंको प्राप्त होते हैं, इस विषयमें भगवान् मनु कहते हैं—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥
(१२ । ४०)

'सत्त्वगुणी लोग देवयोनिको, रजोगुणी मनुष्ययोनिको और तमोगुणी तिर्यग्योनिको प्राप्त होते हैं । जीवोंकी सदा यही तीन प्रकारकी गति होती है ।'

इसके आगे भगवान् मनु ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुपत्नीगमन आदि कुछ महापातकोंका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इन पापोंको करनेवाले अनेक वर्षतक नरक भोगकर फिर नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं । उदाहरणतः ब्रह्महत्या करनेवाला कुत्ते, सूअर, गदहे, चाण्डाल आदि योनियोंको प्राप्त होता है; ब्राह्मण होकर मदिरा-पान करनेवाला कृमि, कीट, पतङ्गादि तथा हिंसक योनियोंमें जन्म लेता है; गुरुपत्नीगामी तृण, गुल्म, लता आदि स्थावर योनियोंमें सैकड़ों बार जन्म ग्रहण करता है तथा अभक्ष्यभक्षण करनेवाला कृमि होता है । (देखिये, मनुस्मृति १२ । ५४–५६, ५८, ५९)

इस प्रकार परलोक एवं पुनर्जन्मके प्रतिपादक अनेकों प्रमाण शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं । वाल्मीकीय रामायणमें युद्धके बाद दशरथजीका आना तथा श्रीराम और लक्ष्मण आदिसे वार्तालाप करना परलोकका जीता-जागता प्रमाण है । इसके लिये वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड ११९वाँ सर्ग देखिये ।

पितरोंके निमित्त पिण्डदान, श्राद्ध-तर्पण आदिका उल्लेख भी स्थान-स्थानपर आया है । श्रीरामचन्द्रजी महाराजने भी पिताकी मृत्युका संवाद सुनते ही मन्दाकिनीके तीरपर जाकर तर्पण किया एवं स्वयं जैसा भोजन किया करते थे, उसीके पिण्ड बनाकर दशरथजीके निमित्त दिये—

ततो मन्दाकिनीं गत्वा स्नात्वा ते वीतकल्मषाः ॥
राज्ञे ददुर्जलं तत्र सर्वे ते जलकाङ्क्षिणे ।
पिण्डान् निर्वापयामास रामो लक्ष्मणसंयुतः ॥
इङ्गुदीफलपिण्याकरचितान् मधुसम्प्लुतान् ।
वयं यदन्नाः पितरस्तदन्नाः स्मृतिनोदिताः ॥
(अध्यात्म० अयोध्या० ९ । १७–१९)

'फिर सब लोग मन्दाकिनीपर जाकर स्नान करके पवित्र हुए । वहाँ उन सबने जलकाङ्क्षी महाराज दशरथको जलाञ्जलि दी तथा लक्ष्मणजीके सहित श्रीरामचन्द्रजीने पिण्ड दिये । जो हमारा अन्न है, वही हमारे पितरोंको प्रिय होगा—यही स्मृतिकी आज्ञा है—यों कह उन्होंने इंगुदी फलकी पीठीके पिण्ड बना उनपर मधु डालकर उन्हें प्रदान किया ।'

वाल्मीकीय रामायणमें भी इसी भावके द्योतक श्लोक मिलते हैं ।

बहुत-से लोग यह शङ्का करते हैं कि 'मरनेके बाद आत्मा रहता है या नहीं, किये हुए कर्मोंका फल कर्ताको परलोकमें मिलता है या नहीं, मृत व्यक्तिके लिये दिया हुआ पदार्थ उसे मिलता है या नहीं और जो मृत व्यक्ति मुक्त हो गया है, उसके प्रति दिया हुआ पदार्थ किसको मिलता है ?' इन प्रश्नोंका समाधान यह है कि 'मरनेपर आत्मा अवश्य रहता है तथा किये हुए कर्मोंका फल कर्ताको अवश्य मिलता है । वह इस लोकमें भी मिल जाता है और शेष बचा हुआ परलोकमें मिलता है । मृत व्यक्तिके लिये जो कुछ दिया जाता है, वह सब उसे प्राप्त होता है; किंतु जो मृत व्यक्ति मुक्त हो गया है, उसके प्रति दिया हुआ कर्त्ताके संचित कर्मरूप कोषमें जमा होता है ।'

यह बात युक्तिसंगत भी है । जो आदमी जिस व्यक्तिके नामसे बैंकमें रुपये जमा कराता है, उसी व्यक्तिके नाम रुपये जमा हो जाते हैं और जिसके नामसे जमा होते हैं, उसीको मिलते हैं, दूसरेको नहीं । और जैसे यहाँ जमा कराये हुए रुपये विदेशमें वहाँके सिक्केके रूपमें मिल जाते हैं, वैसे ही पितरोंके नामसे किये हुए पिण्ड, तर्पण, ब्राह्मण-भोजन आदि कर्मका जितना मूल्य आँका जाता है, उतना ही फल उस प्राणीको वह जिस योनिमें होता है, वहाँकी आवश्यक वस्तुके रूपमें प्राप्त हो जाता है । अर्थात् यदि वह

प्राणी गाय है तो उसे चारेके रूपमें, देवता है तो अमृतके रूपमें, मनुष्य है तो अन्नके रूपमें और बंदर आदि है तो फल आदिके रूपमें उतने ही मूल्यकी वस्तु मिल जाती है।

यदि कहें कि 'जीवित व्यक्तिके लिये भी यदि कोई यज्ञ, दान, अनुष्ठान, व्रत, उपवास आदि कर्म करता है तो क्या वह उसे भी मिलता है?' तो इसका उत्तर यह है कि 'अवश्य उसे मिलता है। नहीं तो, फिर यजमानके लिये जो ब्राह्मण यज्ञ, तप, अनुष्ठान, पूजा, पाठ आदि करता है, वह किसको मिलेगा? न्यायतः वह यजमानको ही मिलेगा; कर्म करनेवाले ब्राह्मणको नहीं।'

यदि कोई प्राणी मुक्त हो गया है तो उसके निमित्त किया हुआ कर्म कर्ताको ही मिलता है। जैसे किसी आदमीको रजिस्ट्री चिट्ठी या बीमा भेजी जाती है और जिसको भेजी जाय, वह आदमी मर गया हो तो फिर वह लौटकर भेजनेवालेको ही वापस मिल जाती है, उसी प्रकार इस विषयमें भी समझना चाहिये।

नीचे लिखे युक्ति-प्रमाणोंसे भी यही सिद्ध होता है कि परलोक अवश्य है और प्राणियोंका पुनर्जन्म होता है—

(१) शरीरकी तरह आत्माका परिवर्तन नहीं होता। शरीरमें तो हम सभीके अवस्थानुसार परिवर्तन होता देखा जाता है। आज जो हमारा शरीर है, कुछ वर्ष बाद वह बिल्कुल बदल जायगा। उसके स्थानमें दूसरा ही शरीर बन जायगा—जैसे नख और केश पहलेके कटते जाते हैं और नये आते रहते हैं। बाल्यावस्थामें हमारे सभी अङ्ग कोमल और छोटे होते हैं, कद छोटा होता है, स्वर मीठा होता है, वजन भी कम होता है तथा मुखपर रोएँ नहीं होते। जवान होनेपर हमारे अङ्ग पहलेसे कटोर और बड़े हो जाते हैं, आवाज भारी हो जाती है, कद लंबा हो जाता है, वजन बढ़ जाता है तथा दाढ़ी-मूँछ आ जाती हैं। इसी प्रकार बुढ़ापेमें हमारे अङ्ग शिथिल हो जाते हैं, शरीरकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है, चमड़ा ढीला पड़ जाता है, बाल पक जाते हैं, दाँत ढीले हो जाते हैं तथा गिर जाते हैं एवं शरीर तथा इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हो जाती है। यही कारण है कि बालकपनमें देखे हुए किसी व्यक्तिको उसके वृद्ध होनेपर हम सहसा नहीं पहचान पाते। परंतु शरीर बदल जानेपर भी हमारा आत्मा नहीं बदलता। दस वर्ष पहले जो हमारा आत्मा था, वही आत्मा इस समय भी है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यदि होता तो आजसे दस वर्ष अथवा बीस वर्ष पहले हमारे जीवनमें घटी हुई घटनाका हमें स्मरण नहीं होता। दूसरेके द्वारा अनुभव किये हुए सुख-दुःखका जिस प्रकार हमें स्मरण नहीं होता। परंतु आजकी घटनाका हमें दस वर्ष बाद अथवा बीस वर्ष बाद भी स्मरण होता है; इससे मालूम होता है कि अनुभव करनेवाला और स्मरण करनेवाला दो व्यक्ति नहीं, बल्कि एक ही व्यक्ति है। यों जिस प्रकार वर्तमान शरीरमें इतना परिवर्तन होनेपर भी आत्मा नहीं बदला, उसी प्रकार मरनेके बाद दूसरा शरीर मिलनेपर भी आत्मा नहीं बदलता। इससे आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है।

(२) मनुष्य अपना अभाव कभी नहीं देखता। वह यह कभी नहीं सोचता कि एक दिन मैं नहीं रहूँगा, अथवा मैं पहले नहीं था। अपने अभावके बारेमें आत्माकी ओरसे उसे कभी समर्थन नहीं मिलता। वह यही सोचता है कि मैं सदासे हूँ और सदा रहूँगा। इससे भी आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है।

(३) बालक जन्मते ही रोने लगता है और जन्मनेके बाद कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोता है; जब माता उसके मुखमें स्तन देती है तो वह उसमेंसे दूध खींचने लगता है और धमकाने आदिपर भयसे काँपता हुआ भी देखा जाता है। बालकके ये सब आचरण पूर्वजन्मको सूचित करते हैं; क्योंकि इस जन्ममें तो उसने ये सब बातें सीखीं नहीं। पूर्वजन्मके अभ्याससे ही ये सब बातें उसके अंदर स्वाभाविक ही होने लगती हैं। पूर्वजन्ममें अनुभव किये हुए सुख-दुःखका स्मरण करके ही वह हँसता और रोता है, पूर्वमें अनुभव किये हुए मृत्युभयके कारण ही वह काँपने लगता है तथा पूर्वजन्ममें किये हुए स्तन्यपानके अभ्याससे ही वह माताके स्तनका दूध खींचने लगता है। इससे भी पुनर्जन्म सिद्ध होता है। (शेष आगे)

अन्तके भावानुसार गति

जीवनभर जिन भाव-विचारोंमें—कर्मोंमें रहता व्यस्त।
मरण-कालमें वही भाव आते हैं मनमें चिर अभ्यस्त॥
अगला लोक-जन्म मिलता है, अन्तिम भावोंके अनुसार।
अतः करो जीवनभर प्रभुका चिन्तन, सेवन, कर्म, विचार॥

वेदमें मृतात्माकी अष्टविध दशा

(लेखक—वेद-दर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर पू० स्वामीजी श्रीगंगेश्वरानन्दजी महाराज)

मरणोत्तर जीवात्माकी प्रथमतः 'गति'-'अगति'—भेदसे दो प्रकारकी दशाएँ होती हैं।

'अगति' शब्दकी परिभाषा लोकान्तरमें गमनाभाव है। अतः अगति चार प्रकारकी बन जाती है। सर्वोत्तम अगति तत्त्वदर्शीकी है, जो तत्त्वदर्शनसे अविद्या और अविद्याके कार्य लिङ्गशरीरका बाध होनेसे कहीं जाता ही नहीं, अपने वास्तविक स्वरूप—ब्रह्मभावमें स्थित हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें 'जीवभूमि'से उठकर 'स्वयं ब्रह्म' बन जाता है। तात्पर्य—उपाधि-सम्बन्धसे कल्पित जीवभाव मिटकर विशुद्ध ब्रह्म-स्वरूपमें अवस्थित होता है। जैसे दर्पणके सम्बन्धसे कल्पित सूर्य-प्रतिबिम्ब दर्पण-उपाधिके हट जानेसे शुद्ध अपने बिम्ब-स्वरूप सूर्यमें ही मिल जाता है।

इस अगतिका नाम 'मुक्ति' भी है। वह दो तरहकी है—'क्षिणोदर्क' और 'भूमोदर्क'। 'क्षिणोदर्क मुक्ति' है वह जो शरीर-इन्द्रिय-प्राणादि अनात्म-पदार्थोंमेंसे आत्मव्याप्तिको 'नेति-नेति' प्रक्रियाके द्वारा हटाकर निराकार निर्विशेष विशुद्धात्म-दर्शनसे प्राप्त होती है। **'सर्वं खलु इदं ब्रह्म।' 'इदं सर्वं यदयमात्मा।'** 'सर्वं वासुदेवः' आदि प्रक्रियाके द्वारा आत्म-व्याप्तिके विस्तार होनेपर विश्वात्मदर्शनसे जो प्राप्त होती है, वह 'भूमोदर्क मुक्ति' है।

पृथिवीमें ही मरणोत्तर अस्थिहीन कीट-पतङ्ग-वृक्षादि योनि प्राप्त होनेपर 'तृतीय अगति' है और अस्थियुक्त पशु-पक्षी आदि योनि 'चतुर्थ अगति' है; क्योंकि मृतात्माको पृथिवीको छोड़कर लोकान्तरमें जाना नहीं पड़ता।

इससे आपको अवगत हो गया कि सर्वथा गतिशून्य स्वरूपस्थितिके कारण द्विविध मुक्ति, दो प्रकारकी सर्वश्रेष्ठ अगति हुई और किसी लोकान्तरमें न जाकर इसी लोकमें वृक्ष-कीट-पतङ्ग आदि एवं पशु-पक्षी आदि योनिमें प्रविष्ट होनेपर निकृष्ट दो प्रकारकी अगति हुई। इसे अगति इस-लिये कहा जाता है, इसमें जीवात्माको पृथिवीलोक छोड़कर कहीं अन्यत्र जाना नहीं पड़ता। तत्पश्चात् अब निम्नलिखित चार प्रकारकी गतिका परिचय प्रस्तुत किया जाता है—ब्रह्म-लोक गति, देवलोक गति, पितृलोक गति, निकृष्ट नरक गति। सर्वोत्कृष्ट विविध तत्त्वदर्शीकी अगतिके साथ उत्क्रान्तिका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं। कारण, उसके प्राण **'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।'** इस श्रुति-वचन (बृह० ४।४।६)के अनुसार उत्क्रमण बिना किये ही **'अत्रैव समवलीयन्ते।'** इस वचनके आधारपर यहाँ ही ज्ञानके द्वारा सविलास अविद्याकी निवृत्ति हो जानेसे अपने अधिष्ठान ब्रह्मतत्त्वमें विलीन हो जाते हैं। वेदान्तशास्त्रका उद्घोष है—**अधिष्ठानाविशेषो हि बाधः कल्पित-वस्तुनः।** अर्थात्' कल्पित वस्तुकी निवृत्ति अपने अधिष्ठानसे अतिरिक्त नहीं, अपितु तत्स्वरूप ही है।' शिष्ट-द्विविध अगति तथा चतुर्विध गतिके साथ उत्क्रान्तिका अविनाभाव है। अर्थात् उनका होना उत्क्रान्तिपूर्वक ही सम्भव है। इसी प्रकार गतिके साथ कहीं-कहीं अगति—पुनरावृत्तिका सम्पर्क अवश्यम्भावी है।

अतएव वेदान्तदर्शन २। ३। १९ में कहा है—

'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्।'

'जीवात्माकी उत्क्रान्ति, गति तथा अगतिका श्रुतियोंमें स्फुट वर्णन है।' यथा—

'स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति।'

(कौषीतकी० ३। ४)

'ये वैके चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।'

(कौषीतकी० १। २)

'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे।'

(बृ० ४। ४। ६)

अर्थात् 'वह जीवात्मा जब इस शरीरसे उत्क्रमण करता है—निर्गत होता है, तब इन सब प्राणोंका साथ ही उत्क्रमण होता है।' 'जो-जो प्राणी इस लोकसे मरणोत्तर प्रस्थान करते हैं, वे सब चन्द्रलोकको ही प्राप्त होते हैं।' 'उस लोक (चन्द्रलोक)से जीवात्मा इस लोकके लिये भुक्तशेष कर्मके फलभोगनिमित्त 'पुनरेति' फिर वापस आता है।' तात्पर्य यह कि वह स्वर्गसे भुक्तशेष कर्मोंका फल भोगनेके लिये पृथिवीपर लौटता है। इसीको शास्त्रमें 'प्रत्यावृत्ति' वा 'आगति' कहा है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होगा, क्या बिना मार्गके भी कोई कहीं जा सकता है? इसके उत्तरमें मार्गका वर्णन वेदमें स्पष्ट किया है।

8256

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥
(ऋ० १०।८८।१५)

वा० य० १९।४७; तै० ब्रा० १, ४, २, ३; २, ६, ३, ५; श० ब्रा० १४, ९, १, ४; काण्ड० बृ० ६, २, २;

'मैंने मनुष्योंके दो मार्गोका श्रवण किया—एक देवोंका, दूसरा पितरोंका (देवयान तथा पितृयान)। जब समस्त विश्वके प्राणी इस लोकसे लोकान्तरको प्रस्थान करते हैं, तब मातरं पितरम् अन्तरा—पृथिवी और स्वर्गके मध्यवर्ती अन्तरिक्षमें उन्हीं दोनों मार्गोंमें होकर समेति—भलीभाँति जाते हैं।'

इस मन्त्रसे पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु (स्वर्ग)—इस त्रिलोकी तथा पृथिवीलोकमें लोकान्तर-गमनके दोनों मार्गोंका स्पष्ट वर्णन किया है। वेदमें पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा द्युलोकका ही नहीं, अपितु उन लोकोंके निवासी मुख्य ११-११ (एकादश-एकादश) देवोंका भी परिचय प्राप्त होता है। स्मरण रहे, जीवात्माकी गतिमें देवोंका सहयोग माना गया है। अतः पृथिवी आदि लोकोंके मुख्य देवोंका उल्लेख अनिवार्य हो जाता है।

देखिये—ऋ० १।१३९।११ मन्त्रमें तीनों लोक, उनके शासक ग्यारह-ग्यारह देवोंका कैसा मनोहर चित्रण हुआ है—

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥

ऋषि देवताओंसे प्रार्थना करता है—'पूजनीय देवगण! आप एकादशकी संख्यामें जो द्युलोकमें रह रहे हैं, पृथिव्याधि—पृथिवीके ऊपर जो उतनी ही संख्यामें विराजमान हैं, एवं इसी प्रकार अप्सुक्षितः*—अन्तरिक्षमें निवास कर रहे हैं, वे सब आप हमारे इस यज्ञको सेवन करें।'

ये देवा दिव्येकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्।
ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्।
ये देवा पृथिव्यामेकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्।
(अथर्ववेद १९।२७।११, १२, १३)

अथर्ववेदके इन मन्त्रोंसे पृथिव्यादि त्रिलोकी एवं उनके क्रमशः शासक ग्यारह-ग्यारह देवोंके गणोंकी पूर्ण पुष्टि हो जाती है।

अब हम ग्यारह-ग्यारहकी संख्यामें उन देवगणोंकी नीचे तालिका दे रहे हैं—'निघण्टु'के ५वें अध्यायमें तथा 'निरुक्त'के ७से १२तक ६ अध्यायोंमें पृथिवी-स्थानीय ५२ देव, अन्तरिक्षनिवासी ६८ देव एवं दिविस्थित ३१—इस प्रकार १५१ देवोंका उल्लेख है। फिर भी तीनों स्थानोंके क्रमशः मुख्य देव—'अग्नि', 'वायु', 'आदित्य' हैं। इनके दस-दस सहायक देव हैं, जो इनके आदेशानुसार कार्य किया करते हैं। पाठकोंको अवगत करानेके लिये उन देवोंके क्रमशः नाम नीचे दिये जाते हैं—

पृथिवीके मुख्य देव—अग्नि और उनके सहकारी दस देव—(१) जातवेदा, (२) वैश्वानर, (३) द्रविणोदा, (४) तनूनपात, (५) नाराशंस, (६) त्वष्टा, (७) वनस्पति, (८) ग्रावाण, (९) रथ, (१०) आप।

अन्तरिक्षके मुख्य देव—वायु और उनके सहकारी दस देव—(१) वरुण, (२) रुद्र, (३) इन्द्र, (४) पर्जन्य, (५) बृहस्पति, (६) यम, (७) मित्र, (८) क, (९) विश्वकर्मा, (१०) सविता।

द्युलोकके मुख्य देव (आदित्य) सूर्य तथा उनके सहकारी दस देव—(१) अश्विनौ, (२) उषा, (३) सूर्या, (४) त्वष्टा, (५) सविता, (६) भग, (७) पूषा, (८) विष्णु, (९) यम, (१०) अज एकपात्—यों संकलित ३३ देव बनते हैं

जीवात्मा पृथिवीसे जब लोकान्तरके लिये प्रस्थानोन्मुख होता है, तब अग्नि अपने सहकारी दस देवोंके साथ उसकी सहायता करता है। इसी तरह वायु अन्तरिक्षमें और द्युलोकमें आदित्य गन्ता जीवात्माको सहयोग देते हैं—

तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति।
(छान्दोग्योपनिषद् ५।४।२)

इस श्रुतिवचनसे देवोंका सहयोग स्पष्ट अवगत होता है। व्याख्याकारोंने 'देव' शब्दका अर्थ आध्यात्मिक प्राण, जो व्यष्टि-समष्टि-लय सिद्धान्तके अनुरूप आधिदैविक अग्न्यादि भावको प्राप्त हो चुके हैं, ऐसा किया है। तात्पर्य—आध्यात्मिक चक्षु सूर्य, आध्यात्मिक वाक् अग्नि, आध्यात्मिक प्राण वायु बनकर द्युलोकरूपी अग्निमें श्रद्धाकी आहुति डालते हैं, जिससे प्रकाशमान चन्द्रलोकवर्ती वृद्धि-क्षययुक्त

* 'अप्' शब्दका अर्थ जलकी प्रधानताके कारण अन्तरिक्ष है।

सोमात्मक यजमानका दिव्य शरीर निष्पन्न होता है। अर्थात् उसी शरीरके द्वारा यजमान अपने किये हुए पुण्य-कर्मोंका फलोपभोग स्वर्गमें करता है।

ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १४वें सूक्तसे १८वें तक ५ सूक्तोंमें जीवात्माकी लोकान्तर गतिके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण मन्त्र उपलब्ध होते हैं। उनमेंसे कतिपय मन्त्र निम्न निर्दिष्ट हैं—

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥

(ऋक्० १० । १६ । ३; । तै० आ० ६ । १ । ४; निरुक्त ७ । ३)

पूर्वार्धमें—**'सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।'**

इस प्रकारसे स्वल्प पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें यही मन्त्र १८ । २ । ७ उद्धृत है।

छान्दोग्योपनिषद्के पञ्चम अध्यायके ३ से १० तक ८ खण्डोंमें पञ्चाग्निविद्याका निरूपण है। उसका संक्षेप द्वितीय मुण्डक, खण्ड प्रथम, मन्त्र पञ्चम—

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः
सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां
बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः॥

—इस मन्त्रमें हुआ है। उसी पञ्चाग्निविद्याका बीज **'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु'** इस मन्त्रमें उपलब्ध है। पाठकोंको समझानेके लिये बीजभूत मन्त्रकी व्याख्यासे पहले पञ्चाग्नि-विद्याका सार दिया जाता है। पांच अग्नि हैं—द्युलोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष तथा योषित् (स्त्री)। क्रमशः इन पाँचों अग्नियोंमें जो प्रक्षिप्त की जाती है, वे पाँच आहुतियाँ हैं—क्रमशः श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न, रेतः (शुक्र)। अग्निहोत्रादि यज्ञ-प्रक्रियाओंके अनुसार आवहनीय अग्निमें दूध-दधि-घृतादिकी यजमान श्रद्धापूर्वक आहुति डालता है। अग्निसंयोग होते ही वे दध्यादि द्रव्य सूक्ष्म वाष्परूपको धारण कर लेते हैं*। पहलेकी अपेक्षा कुछ नवीनता आ जानेके कारण इन्हें व्याख्याकारोंने 'अपूर्व' शब्दसे भी कहा है।

यजमानका जीवात्मा जब मनुष्यशरीरसे निकलता है तो स्थूल शरीर यहीं पड़ा रहता है। उसकी कहीं जानेकी सम्भावना ही नहीं। वैराग्यशास्त्रमें उसकी तीन गतियाँ—दशाएँ वर्णन की गयी हैं। यदि उसका अग्निसंस्कार किया जाय तो वह भस्मकी ढेरी बनेगा। यदि किसी मांसाहारी सिंहादि पशुने उसे अपना आहार बना दिया तो वह घृणित विष्ठाका रूप धारण करेगा। यदि पृथिवीमें गाड़ दिया जाय और यों ही पड़ा रह जाय तो सड़ जानेसे उसमें कीड़े पड़ जायँगे, अर्थात् वह कृमिरूपको प्राप्त हो जायगा। अतः जीवात्माका साथ देनेवाला मरणोत्तर सूक्ष्म शरीर या लिङ्गशरीर ही है, जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन तथा बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंका संघात है। उसमें मनस्तत्त्वकी प्रधानता होनेके कारण उसमें केवल 'मनः' शब्दका भी प्रयोग किया जाता है। वह केवल शक्तिस्वरूप होनेसे भौतिक शरीरकी सहायता बिना कहीं गमन करनेमें असमर्थ है। अतः जैसे किसी पदार्थको घी, दूध या तैल—किसी स्निग्ध द्रव्यमें डाल दिया जाय और पुनः उसे निकाल ही क्यों न दिया जाय फिर भी, कुछ सूक्ष्म अंश संलग्न अवश्य रह जाते हैं। इसी प्रकार भले ही सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीरसे पृथक् हो गया हो, फिर भी स्थूलशरीरके आरम्भिक कुछ भौतिक अंश उस सूक्ष्म-शरीरसे संलग्न रह जाते हैं। इन्हींको शास्त्रने 'भूतसूक्ष्म' कहा है। अतः जब लिङ्गशरीरके साथ जीवात्मा प्रस्थान करेगा तो कतिपय भूतसूक्ष्म उसका साथ अवश्य देंगे। इधर अग्निप्रक्षिप्त वाष्पभावको प्राप्त हुए आहुतिद्रव्य दुग्ध-दध्यादिके सूक्ष्म परमाणु भी साथ मिल जायँगे। जैसे किसी पदार्थको कितना ही सुरक्षित घरमें क्यों न रक्खा जाय, धीरे-धीरे उसपर धूलि पड़नेसे एक मृत्तिकाका परत या स्तर जम जाता है, इसी प्रकार लिङ्गशरीरके ऊपर स्थूलशरीर आरम्भक भूतसूक्ष्म-मिश्रित आहुतिद्रव्यके सूक्ष्मांशोंका एक स्तर-सा बन जाता है; वही इस लिङ्ग-शरीरका गमन करनेमें आश्रयका काम देता है। दूसरे शब्दोंमें उसीके आश्रित हो लिङ्गशरीर परलोकयात्रा आरम्भ करता है। कहना न होगा, उसी लिङ्गशरीरके आधारपर भूतान्तरसहित श्रद्धा-निष्पाद्य आहुतिद्रव्यके सूक्ष्म वाष्पसे ही एक जीवात्माके यातनाशरीरका निर्माण होता है। अन्तर केवल इतना है—पुण्यात्मा अपने गन्तव्य स्वर्गादिमें पहुँचकर नये दिव्य विग्रहको धारण करता है। उसी

* इन्हींका 'श्रद्धा' शब्दसे श्रुतिमें उल्लेख हुआ है। कारण, उनके प्रक्षेपके मूलमें श्रद्धा ही हेतु है।

समय उसके यातनाशरीरका अन्त हो जाता है। नरक-गतिमें यातनाशरीरका अन्त नहीं होता। उसीके द्वारा जीवात्मा रौरवादि भयंकर नरक-यातनाओंका उपभोग करता है। नरकगामी जीवात्माके यातनाशरीरमें केवल भूतसूक्ष्मोंका ही अस्तित्व है, आहुतिद्रव्यके अपूर्वीभूत सूक्ष्म वाष्प-अंशोंका नहीं। उनका सम्पर्क केवल ऊर्ध्वगति पुण्यात्मा जीवके ही आतिवाहिक शरीरमें सम्भव है। यद्यपि लोकान्तर-गमनमें सहकारी शरीर यातनाशरीर ही है तथापि यातनाशरीरका व्यवहार पुण्यात्माके लोकान्तरगति सहकारी शरीरमें शास्त्रकारोंने इस आशयसे नहीं किया कि पुण्यात्माको यातना होगी ही क्यों ! अतः कतिपय विद्वानोंका मत है कि स्वर्ग या नरकतक पहुँचानेवाले शरीरको आतिवाहिक शरीर कहना ही अधिक उपयुक्त है। यातनाशरीर तो पापात्माओंको उसी समय मिलेगा जब वे नरकमें यातना भोगनेके लिये ढकेल दिये जायँगे।

उपर्युक्त विवेचनासे प्रमाणित हुआ कि पुण्यात्मा चन्द्र-लोकमें द्युलोक-अग्निमें आहुत श्रद्धाशब्दित सूक्ष्म अप् (जल) सदृश दुग्ध-दध्यादिके द्रुत द्रव्य वाष्पापन्न अशोंसे निष्पन्न दिव्य विग्रहमें स्वर्गसुखका चिरकालतक उपभोग करता है। फिर उस दिव्य शरीरके आरम्भक भूतसूक्ष्म जलसदृश द्रुतद्रव्यके घनीभूत अंश-भोगद्वारा पुण्यके क्षय होनेपर अनुताप अग्निसे विलीन हो जाते हैं। उन्हीं विलीन भूतसूक्ष्मसहित जलोंमें वेष्टित जीवात्मा स्वर्गसे वापस लौट आता है। फिर पर्जन्याग्निमें दिव्य शरीरारम्भक विलीन सोमकी आहुति होती है, जिससे वृष्टिकी निष्पत्ति होती है। उस वृष्टिकी तृतीय पृथिवी-अग्निमें आहुति पड़नेसे पृथिवीमें व्रीहि-यवादि अन्न उत्पन्न होता है। उस व्रीह्यादि जाति स्थावर व्रीहि-यवादिमें स्वर्गच्युत जीवात्मा चिरकालतक संसृष्ट रहता है। इस व्रीह्यादि संश्लेषका अन्त कष्ट-साध्य है। दूसरे शब्दोंमें इस व्रीह्यादि अन्नके पौधोंसे जीवात्माका निष्क्रमण अति कठिन है। इसीलिये श्रुतिमें कहा है—

'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्।'

(छान्दोग्य० ५। १०। ६)

अर्थात् 'इस व्रीह्यादिभावसे जीवात्माका निष्क्रमण दूसरे शब्दोंमें निष्क्रमण अति कृच्छ्रसाध्य है।'

अस्तु, जब चतुर्थ पुरुषाग्निमें अन्नकी आहुति दी जायगी तो रेतः—शुक्र (रसादिक्रमसे निष्पन्न सप्तम धातु) की निष्पत्ति होगी। पश्चात् योषारूप (स्त्री) पञ्चमाग्निमें उस शुक्रकी आहुतिसे मातृकुक्षिस्थ गर्भका जन्म होगा; फिर वही गर्भ क्रमशः मातृकुक्षिमें नौ या दस मास रहकर परिपूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गादियुक्त हो जाता है। पश्चात् मातृयोनिसे निर्गत हो शिशु, बाल, कुमार नामोंसे व्यपदिष्ट होता है। कहनेका अभिप्राय है कि द्युलोकादि पाँच अग्नियोंमें क्रमशः श्रद्धादि पञ्चाहुतियोंके प्रक्षेपका परिणाम ही मानवशरीर है। निष्कर्ष—यज्ञाग्निमें हवन करनेसे अग्नि-संयोगद्वारा विलीन हो द्रुतद्रव्य बने; अतएव उन्हें अप् या जल कहा गया। वे ही क्रमशः मनुष्य-शरीरमें परिणत होकर अब पुरुष कहे जायँगे। अर्थात् पञ्चमाहुतिमें पहले 'जल' शब्दसे कहे जानेवाले जल अब 'पुरुष' नामसे व्यवहृत होंगे। अब उन्हें 'अप्' संज्ञा न देकर 'पुरुष' संज्ञा दी जायगी। अतएव श्रुति भगवतीका वचन है **'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति'**।—तात्पर्य, पञ्चमी आहुतिके प्रक्षिप्त होते ही पहलेके द्रुतद्रव्य, जिन्हें जल कहा जाता था, 'पुरुष' संज्ञाको प्राप्त कर लेते हैं।' इसी अभिप्रायको संक्षेपमें मुण्डक २। १। ५ 'तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः।'—यह मन्त्र व्यक्त करता है।

(मन्त्रार्थ)—उस अक्षरब्रह्मसे द्युलोक अग्निका जन्म हुआ। सूर्य ही इस द्युलोक अग्निका इन्धन है; क्योंकि काष्ठसे भौतिक अग्निकी तरह यह द्युलोक सूर्यसे समिद्ध, प्रदीप्त अर्थात् चमकता है। उस द्युलोकाग्निमें पूर्वोक्त द्रुतद्रव्यात्मक श्रद्धाकी आहुतिसे सोम (चन्द्र) स्वर्गीय दिव्य शरीर निष्पन्न होता है। जब भोगद्वारा पुण्यक्षयके कारण दिव्य शरीरधारी जीवात्माको अनुताप या पश्चात्ताप होता है, तब उस विलीन सोमसे पर्जन्यकी उत्पत्ति होती है। पुनः द्वितीय पर्जन्याग्निसे तृतीय पृथिवीरूपाग्निमें वृष्टिकी आहुतिद्वारा व्रीहि-यवादि ओषधियोंका प्रादुर्भाव होता है। चतुर्थ पुरुषाग्निमें अन्नरूपसे प्राप्त उन ओषधिद्रव्योंसे रेतः (शुक्र) की निष्पत्ति होती है। जब चतुर्थाग्नि-पुरुष योषित् (स्त्री) पञ्चमाग्निमें रेतःका सिञ्चन करता है, तब पुरुषशरीर माता-के गर्भमें धीरे-धीरे पुष्ट हो शिशुभावमें प्रकट होता है। इस क्रमसे ब्राह्मणादि समस्त प्राणिवर्ग उस अक्षर पुरुषसे ही प्रादुर्भूत होता है।

इसी पञ्चाग्निविद्याका बीज **'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु'** अथर्व वेद १०। १६। ३ मन्त्रमें उपलब्ध है। (मन्त्रार्थ) प्रेतात्माको सम्बोधित कर कहा जा रहा है कि 'हे मृतात्मन्! तेरी चक्षु-इन्द्रिय अपने समष्टि आधिदैविक सूर्यस्वरूपको प्राप्त हो।'

आत्मा=प्राण, वातं—समष्टि आधिदैविक वायुमें मिल जाय। पहले कहा जा चुका है कि आध्यात्मिक चक्षुरादि प्राण आधिदैविक सूर्याग्नि आदि देवभावको प्राप्त हो मृतात्माके प्रस्थानमें सहायक होते हैं। उसी अभिप्रायको मन्त्रका प्रथम चरण व्यक्त कर रहा है। अथवा इस मन्त्रांशसे उत्क्रान्तिका वर्णन किया है, जिसके बिना लोकान्तर-गति असम्भव है।

ज्ञातव्य है, उत्क्रान्ति (देहत्याग) के समय जीवात्माको अति दुःसह चतुर्विध भयंकर यातना सहन करनी पड़ती है। अतएव उत्क्रान्ति (मृत्यु) का नाम सुनते ही मानव-हृदय काँप जाता है। वे दुःख निम्नलिखित हैं—'विश्लेषज-दुःख', 'मोहज', 'अनुतापज' और 'आगामी-दृश्यदर्शनज'। गोंदसे चिपकाये हुए दो कागजोंको अलग करना बहुत कठिन है। कभी-कभी अलग करनेके समय अलग न होकर वे फट जाते हैं। ठीक यही स्थिति अहंता-ममताके गोंदद्वारा स्थूलशरीरसे संलग्न सूक्ष्मशरीरकी है। जब सूक्ष्मशरीरसे स्थूलशरीरको पृथक् होना पड़ता है, तो असह्य वेदनाका अनुभव करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जैसे दोका भार एक मनुष्यको उठानेमें अति क्लेश होता है, वैसे ही स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरोंका भार अब अकेले सूक्ष्मशरीरपर ही आनेके कारण महती पीड़ा होती है। बस, यही 'विश्लेषज दुःख' है।

मरणोन्मुख प्राणीको चारों ओरसे कुटुम्बीजन घेरे रहते हैं। सामने साश्रुनयना पत्नी या पति है, लाड़ले बेटे कह रहे हैं—'माताजी! पिताजी! आप हमें अनाथ छोड़कर जा रहे हैं।' पुत्रवत्सला मा आर्तनाद कर रही है—'पुत्र! तू क्यों कठोर हो वृद्धा माताको असहाय दशामें छोड़े जा रहा है', तब उसका तीव्र मोह (कुटुम्बासक्ति) उद्बुद्ध हो हृदयको अत्यन्त संतप्त करता है—'हाय! जिनसे मैं पलभर भी पृथक् होना नहीं चाहता था, उन्हें छोड़नेके लिये विवश हूँ।' इसीको 'मोहज-दुःख' कहा गया है।

'मैंने जन्मभर पाप किये। भूलकर भी भगवद्भजन, साधुसेवा, दानादि पुण्य कार्य नहीं किये। अब मैं यमराजके दरबारमें क्या उत्तर दूँगा।' इन विचारोंसे अनुतापकी पराकाष्ठामें असह्य वेदना मुमूर्षुको होती है। इसीका नाम 'अनुतापज दुःख' है।

मृत्युके समय भावी दृश्य उपस्थित हो जाता है, जिससे पापात्माको बड़ी घबराहट होती है। वह काँपता है—'मुझे रौरवादि भयंकर नरकोंमें ढकेला जायगा। मैं असहाय हो वहाँकी कठोर यातनाएँ भोगूँगा। जिन कुटुम्बियोंके लिये अगणित चोरी, ठगी, डकैती आदि कुकर्म किये, वे मेरा वहाँ साथ न देंगे।' भागवतमें वर्णन है कि पापात्माको निगृहीत करनेके लिये भयंकर आकृति, दण्डपाणि, रक्तनयन यमदूत उपस्थित होते हैं, जिनके देखनेमात्रसे मुमूर्षुका हृदय भयभीत हो जाता है। इतना ही नहीं, अधिक भयके कारण शय्यामें ही मलमूत्रका त्यागतक हो जाता है। इसीको 'आगामी दृश्यदर्शनज-दुःख' कहते हैं। अतएव जन्म, जरा, व्याधि-दुःखोंकी तुलनामें मरण-दुःखको सर्वाधिक भयंकर दुःख माना गया है।

पुण्यात्माके पास इस प्रकारके दुःख कभी फटकते तक नहीं। प्रत्युत वह आगामी स्वर्गीय दृश्यदर्शनसे अत्यन्त प्रसन्न हो हँसते-हँसते प्राणोंका विसर्जन करता है। उत्क्रान्त जीवात्माको पुण्यवश कहाँ, किस प्रकार जाना होगा और वहाँसे प्रत्यावर्तित हो किस स्थितिमें आना होगा—इसका विवरण शिष्ट तीन चरणोंमें दिया गया है।

परलोकगामी जीवात्मासे कहा जा रहा है कि तुम 'धर्मणा'—अपने अर्जित पुण्यके प्रभावसे 'द्यौं'—स्वर्गको 'गच्छ'—प्राप्त करो। फिर स्वर्गप्रापक पुण्यके क्षीण होनेपर अनुतापाग्निसे विलीन सोमद्वारा 'अपो वा गच्छ'—अन्तरिक्षको प्राप्त होओ। तात्पर्य—अन्तरिक्षस्थित मेघके जलमें प्रवेश करो। तत्पश्चात्, वृष्टिके द्वारा 'पृथिवीं गच्छ'—स्वर्गसे प्रत्यावर्तित हो पृथिवीको प्राप्त करो। फिर पृथिवीमें प्रादुर्भूत व्रीहि-यवादि ओषधियोंमें स्थित (संश्लिष्ट) होओ। 'शरीरैः'—शरीर-धारणके निमित्त। यह तृतीया फल उद्देश्य लक्षणहेतु अर्थमें है। यथा 'अध्ययनेन वसति'—अध्ययनके उद्देश्यसे रह रहा है। अर्थात् उसके निवासका फल उद्देश्य और लक्ष्य अध्ययन ही है।' भट्टोजी दीक्षितने सिद्धान्त-कौमुदीमें 'फलमपीह हेतुः' इस उक्तिसे दण्डादि कारणकी तरह क्रियाके फलको भी हेतु मानकर हेतु तृतीयाका समर्थन किया है। निष्कर्ष—ओषधिमें जीवात्माकी स्थिति या संश्लेषका लक्ष्य भावी पुरुषशरीर-धारण ही है। ओषधि नाम व्रीहि-यवादि अन्नका है। वही अन्न पुरुष (पिता) के द्वारा भुक्त हो रसादि परम्परासे सप्तम धातु—शुक्र बनेगा। वह शुक्र स्त्रीमें निषिक्त हो 'गर्भ' बनकर कुछ महीनोंमें पुरुषाकृतिमें परिणत हो, मातृयोनिसे निर्गत होनेपर शिशु, बाल, कुमार आदि शब्दोंसे व्यवहृत

होगा । अतः प्रमाणित हुआ कि ओषधिमें स्वर्गसे प्रत्यावर्तित जीवात्माके अवस्थानका उद्देश्य शरीर-धारण ही है । इस मन्त्रके द्वारा अति संक्षिप्त शब्दोंमें पञ्चाग्निविद्याके समस्त सिद्धान्तोंको गागरमें सागरकी तरह भर दिया गया है ।

प्रसन्नताकी बात है, जिस पञ्चाग्निविद्याका गूढ़ वर्णन संहितामें किया, उसीका कुछ विस्तारके साथ मुण्डकमें दिग्दर्शन हुआ। छान्दोग्योपनिषद्के पञ्चमाध्यायके ३ से १० तक आठ खण्डोंमें एवं बृहदारण्यकोपनिषद् षष्ठाध्यायके द्वितीय ब्राह्मणमें अति विस्तारके साथ इसका निरूपण किया गया है।

विस्तारभयसे लेखनीको विराम ही देना पड़ेगा । फिर भी कतिपय शब्दोंमें पञ्चाग्निविद्याके पाँच प्रश्न और उनके उत्तरोंका दिग्दर्शन अनिवार्य है ।

प्रश्न—पृथिवीलोकसे मरणोत्तर प्राणी ऊपरके किस लोकमें जाता है ?

उत्तर—ज्ञानी, उपासक, कर्मठ, कुकर्मी—चार श्रेणियोंमें प्राणिवर्ग विभक्त हैं । ज्ञानीको कहीं जाना ही नहीं । यह पहले कहा जा चुका है । वह यहीं जीवभावका अन्त होनेसे अपने ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है । उपासक दो तरहके हैं - जैसे पञ्चाग्नि उपासक एवं ब्रह्मोपासक । दोनों ही ब्रह्मलोकमें अवश्य जायँगे । अन्तर केवल इतना है कि पञ्चाग्नि-उपासक जिस कल्पमें ब्रह्मलोकको प्राप्त हुआ है उस कल्पमें उसकी पुनरावृत्ति न होगी; क्योंकि श्रुति (छान्दोग्य० ४ । १५ । ६)में लिखा है कि 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानव मावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ।' इस विशेषणसे उसी कल्पमें, जिस कल्पमें वे ब्रह्मलोक गये है, पुनरावृत्तिका निषेध हुआ है । कल्पान्तरमें पुनः प्रतीकोपासककी पुनरावृत्ति अनिवार्य है । ब्रह्मोपासककी पुनरावृत्ति न होकर क्रममुक्ति ही होगी ।

कल्पके अन्तमें जब ब्रह्मलोकके अध्यक्ष हिरण्यगर्भ मुक्त होंगे तो उनके साथ उनके आदेशसे सब-के-सब ब्रह्मलोकवासी उपासक मुक्त हो जायँगे । कारण, उस समय हिरण्यगर्भके उपदेशसे वहाँके निवासी आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर लेते हैं । इस विषयका निरूपण वेदान्तदर्शन 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।' 'स्मृतेश्च ।' (४ । ३ । १०-११) में देखना चाहिये ।

कर्मठ देवलोक या पितृलोककी गतिको प्राप्त होते हैं । भेद केवल इतना है कि पितृलोकसे ग्राह्य चन्द्रलोक पृथिवी तथा द्युलोकके मध्यवर्ती अन्तरिक्षमें है । देवलोक ग्राह्य स्वर्ग, चन्द्रलोक द्युलोक अथवा द्युलोकसे उपरिस्थित परमेष्ठि-मण्डल है । वैदिक प्रक्रियामें पाँचों मण्डल हैं । स्वयंभूमण्डल, परमेष्ठिमण्डल, सूर्यमण्डल, पृथिवीमण्डल तथा पृथिवीके ऊपर अन्तरिक्षके एक देशमें स्थित लघु-चन्द्रमण्डल । 'आकाशाच्चन्द्रमसम् ।' इस श्रुतिवचन (छान्दोग्य० ५ । १० । ४) में इसी लघु-चन्द्रमण्डलका उल्लेख है । 'संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसम्' इस श्रुतिवाक्य (छान्दोग्य० ५ । १० । २) में आदित्यमण्डलके उपरिवर्ती परमेष्ठिमण्डलकी ओर संकेत है; क्योंकि परमेष्ठिमण्डलात्मक चन्द्रमण्डलका ही आदित्यमण्डलके ऊपर होना न्यायसंगत है । इन पाँचों मण्डलोंमें भूरादि सप्तलोकोंका समावेश हो जाता है और एक-एक लोककी दो-दो बार गणना करनेसे तीन त्रिलोकियोंका स्वरूप निष्पन्न होता है । जैसे भूलोक पृथिवी, जिसपर मनुष्य-समाज रह रहा है; द्युलोक, जिसमें सूर्य देदीप्यमान है, जिसे सूर्यमण्डल कहा जायगा । इन पृथिवी द्युलोकके मध्यवर्ती अवकाशात्मक आकाश अन्तरिक्ष है । इन तीनोंकी एक त्रिलोकी बनी । दो मण्डलोंकी दृष्टिसे इस त्रिलोकीका वैदिक नाम 'रोदसी' है । द्युलोक और 'जनः' या जनलोक इन दोनोंके मध्यवर्ती 'महः' नामक आकाशको मिला लेनेसे स्वः, महः, जनः—इन तीनोंकी द्वितीय त्रिलोकी बनी । द्युलोकका अपर नाम स्वः या सूर्यमण्डल है । जनलोकका नामान्तर ही 'परमेष्ठिमण्डल' है ।* जनः और सत्य और उनके मध्यवर्ती तपोलोकको मिला लेनेसे इन तीनोंकी तीसरी त्रिलोकी बनेगी । परमेष्ठिमण्डल, स्वयम्भू मण्डल—इन दो मण्डलोंकी दृष्टिसे इस त्रिलोकीका द्विवचनान्त वैदिक नाम 'संयती' है ।

इन सातों लोकोंका अनुस्मरण वेदानुगामी द्विज प्रतिदिन संध्योपासनके समय करते ही हैं । अनन्त आकाशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं । उनका आभासमात्र हमारे साहित्यमें कहीं-कहीं अवश्य है । विस्तृत विवरण इन त्रिलोकियोंकी समष्टि हमारे इस ब्रह्माण्डका ही यत्र-तत्र पाया जाता है ।

अस्तु, पितृलोकात्मक चन्द्रलोकके स्पष्टीकरणके लिये प्रसङ्गवश मण्डलादिका उल्लेख किया गया । आकाशके

* इस त्रिलोकीका वेदमें उल्लेख 'क्रन्दसी' इस द्विवचनान्त प्रयोगसे हुआ है ।

शीत कटिबन्ध, उष्ण कटिबन्ध, मध्य कटिबन्ध एवं नागवीथि, अजवीथ्यादि नौ वीथियोंका शास्त्रवर्णित विवरण आवश्यक होनेपर भी स्थानसंकोचके कारण नहीं किया जा सका। उनके लिये पाठक पुराणशास्त्रकी शरण लें। कर्मठोंको कर्मफलभोगके अनन्तर पृथिवीपर अवश्य लौटना ही होगा, जिसका विवरण द्वितीय प्रश्नके उत्तरमें दिया जायगा।

प्रश्न २—स्वर्ग या पितृलोकमें गये हुए प्राणियोंके प्रत्यावर्तनका प्रकार क्या होगा?

उत्तर—वे स्वर्ग वा पितृलोकके प्रापक कर्मसमूहके भोगके अनन्तर वहाँसे वक्ष्यमाण मार्गसे प्रत्यावर्तन करते हैं। पहले वे आकाशको प्राप्त होंगे, पश्चात् वायुको, फिर वायु सदृश होकर धूम-सदृश होंगे। अनन्तर अभ्र, तदनु मेघ बनकर वृष्टिद्वारा पृथिवीपर पहुँचेंगे। वे साक्षात् धूमादि स्वरूप न बनकर उनके समान स्वभावके होते हैं। पृथिवीपर पहुँचकर जातिस्थावर व्रीहि-यवादि पौधोंके साथ संश्लिष्ट होते हैं। स्वयं स्थावर योनिको प्राप्त नहीं होते। इसको समझनेके लिये वेदान्तदर्शन—

'साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः।' 'नातिचिरेण विशेषात्।' 'अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्।'

(३।१।२२, २३, २४)

—सूत्र तथा शांकरभाष्य द्रष्टव्य है।

प्रश्न ३—देवयान पितृयान, इन दोनों मार्गोंका विभाग अथवा अन्तर क्या है? तात्पर्य, ये दोनों मार्ग कहाँसे पृथक् होते हैं तथा इन दोनोंके विश्राम, पड़ाव, स्टेशन समान हैं या न्यूनाधिक?

उत्तर—पितृयानमार्ग (धूमयान) के क्रमशः सात पर्व हैं—धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायनके षण्मास, ये प्रथम चार पर्व हैं। ज्ञातव्य है कि धूमादि शब्दोंका सिद्धार्थ यहाँ विवक्षित नहीं, अपितु तदभिमानी 'आतिवाहिक देवता' अभिप्रेत है। देखिये—वेदान्तदर्शन ४।३।४ 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्।'

इस मार्गसे जानेवाले कर्मठ प्राणी संवत्सराभिमानी आतिवाहिक देवताको मिल नहीं पाते। बस, यहाँसे इस पितृयानमार्गका देवयानमार्गसे विभाग हो जाता है। पञ्चम पर्व पितृलोक, षष्ठ आकाश, सप्तम चन्द्रलोक है।

(देखिये छान्दोग्योपनिषद्—५।१०।३, ४)

देवयानमार्गके १४ पर्व हैं—(१) अर्चिः अग्नि ज्वाला, (२) दिवस, (३) शुक्लपक्ष, (४) उत्तरायणके षण्मास, (५) संवत्सर, (६) देवलोक, (७) वायु, (८) आदित्य, (९) चन्द्र (जनः) परमेष्ठिमण्डल, (१०) विद्युत् (तपः), (११) वरुण, (१२) इन्द्र, (१३) प्रजापतिः, (१४) ब्रह्मलोक (सत्यलोक)।

विद्युत्-लोकमें उपासकके पहुँचते ही उसके स्वागतके लिये ब्रह्मलोकसे अमानव (दिव्य पुरुष) भेज दिया जाता है। वह उसे साथ ले वरुणलोकादिद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचा देता है। छान्दोग्य ५।१०।१, २ में यद्यपि देवलोक, वायुलोक, वरुण, इन्द्र, प्रजापति—इन पाँचों पर्वोंका उल्लेख नहीं, तथापि कौषीतकी आदि अन्य श्रुतिवचनोंके आधारपर वे मार्गकी पर्वपूर्तिके लिये अवश्य उपादेय हैं। इसका विवरण वेदान्तदर्शन ४।३।१, २, ३ सूत्रों तथा उनके भाष्यमें द्रष्टव्य है।

प्रश्न ४—क्या आजतक अनन्त पुण्यात्माओंके स्वर्गमें चले जानेसे वह स्वर्ग परिपूर्ण न हो गया होगा, अर्थात् आजकल जिन देशोंमें अधिक जनसंख्या हो जाय, वहाँ नये विदेशियोंके आनेपर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। सम्भव है स्वर्गलोकमें अधिक प्राणिवर्गकी उपस्थितिके कारण नये परलोकयात्रियोंके लिये प्रतिबन्ध तो नहीं लगा दिया गया?

उत्तर—प्रथमतः पुण्यात्माओंकी स्वल्प संख्या होती है, और गये हुओंका प्रत्यावर्तन भी पहले कहा जा चुका है। कुकर्मीको वहाँ जानेका आदेश ही नहीं। कारण, कुकर्मी वहाँ जाते ही नहीं। उनके लिये जन्म मरण परम्परारूप तृतीय स्थान निर्धारित है। निष्कर्ष—कुकर्मी लोग क्षुद्र कीट-पतङ्गयोनिमें चले जाते हैं। वे बार बार जन्मते तथा मरते हैं। इसलिये वे पृथिवीपर ही जन्म मरणके चक्रमें फँसे रहते हैं। अतएव अनन्त कुकर्मियोंके पृथिवीमण्डलमें ही तिर्यक् योनियोमें प्रविष्ट होनेके कारण स्वर्गलोकके परिपूर्ण होनेकी सम्भावना ही नहीं। कतिपय स्वर्गमें गये हुए पुण्यात्माओंको भी कुछ सीमित समयतक निवासका आदेश है। भोगसे कर्मक्षय होनेपर उन्हें भी वहाँसे निर्वासित किया जाता है। भला, ऐसी स्थितिमें स्वर्गका भरना तो दूर रहा, वहाँके रिक्त स्थानोंकी पूर्ति होना भी कठिन है; क्योंकि जनसमाजका अधिक झुकाव पापकी ओर है। पुण्यकी ओर अङ्गुलिगण्य बिरले व्यक्तियोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। इसके अतिरिक्त

अति कुकर्मी, जिन्हें रौरवादि नरकोंमें जाकर यातना भुगतनी होगी, उनकी तुलना अपराधी कैदियोंसे करनी होगी। न्यायालयमें दण्डित होकर कैदी कारा (जेल) में भेज दिये जाते हैं। वहाँ कारावासकी कठोर यातनाएँ उन्हें भोगनी पड़ती है।

दक्षिणायन नामक चौथे पर्वतक वे जा सकते हैं; उसके पश्चात् दक्षिणदिशामें वर्तमान यमालयमें उन्हें जाना पड़ेगा। यहाँ मृत पुरुषोंके अपराधके दण्डका निर्णय वैवस्वत यमदेव करते है। इस कार्यके लिये वे प्रभुकी ओरसे नियुक्त है। इसीलिये उन्हे पितृलोक नामक यमालयमें पहुँचे हुए प्राणिवर्गका शासक होनेके कारण अभिधान-कोशमें 'पितृपति' या 'धर्मराज' कहा है। इस विषयका स्पष्टीकरण निम्न निर्दिष्ट मन्त्रोंके अवलोकनसे होगा—

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥
(शु० य० मा० सं० १९। ४५)

इस मन्त्रमे पितृवर्गकी यमराज्यमें सत्ताका उल्लेख है। भाष्यकार महीधर—

'यमस्य राज्यं यस्मिन् तत्र यमलोके ये पितरो वर्तन्ते धर्मराजः पितृपतिरित्यभिधानात्।'

इस उक्तिद्वारा यमालय (यमलोक) और वहाँ नियुक्त दण्डपाणि धर्मराजके अस्तित्वका स्पष्ट प्रतिपादन कर रहे हैं। केवल दण्डपाणि यमकी नियुक्ति नहीं, उसकी सहायताके लिये पाशपाणि वरुण भी नियुक्त हुए हैं—

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥
(ऋ० १०। १४। ७, अथर्व (कुछ पाठान्तरसे) १८। १। ५४)

पुत्र अपने मृत पितासे कह रहा है कि 'मेरे पूज्य पिताजी! पूर्वकालमें होनेवाले अनादिकाल-प्रवृत्त मार्गोसे आप वहाँ अति शीघ्र जायें। द्विरुक्तिसे आदरातिशय अथवा अतिशीघ्रताकी सूचना है। यहाँ हमारे पूर्वपुरुष पितामहादि पहले पहुँच चुके हैं तथा वहाँ पहुँचकर स्वधया—अमृतसे तृप्त यम और वरुणदेव दोनों राजाओंके दर्शन करें।' इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यमालयमें मृतात्माओंके भाग्य निर्णय करनेके लिये दो अधिकारी नियुक्त हैं—यम और वरुण। उनमेंसे वरुणका उत्कर्ष बतलानेके लिये 'देव' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कारण ऋग्वेदमें केवल वरुणदेवके लिये 'सम्राट्' शब्दका प्रयोग हुआ है। अतएव यमके हाथमें दण्ड और वरुणके हाथमें पाश शासकका चिह्न है—

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः।
(तै० आ० ६। ४। २; ऋग्वेद १०। १४। ८; अथर्व १८। ३। ५८)

पुत्र अपने मृत पितासे पुनः प्रार्थना करता है—

'हे मृतात्मन् पिताजी! अवद्यम्—पापको हित्वायः—हित्वा, परित्याग करके अनुष्ठान किये हुए इष्टापूर्त्त श्रौतस्मार्त दान-रूप कर्मके प्रभावसे आप यमसे मिलें। तदनन्तर उनसे शासित पितरोंसे समागम करें। जो यम और पितृगण, परमे व्योमन्—उत्कृष्ट स्थान—उत्तम पितृलोक—स्वर्गमें रह रहे हैं। 'अस्तं—भोगसे कर्मक्षयके होनेपर फिर पृथिवीपर एहि—आगमन करें। अथवा कर्मभोगानन्तर, अस्तं—सर्व प्राणियोंके गृह—निवासस्थान पृथिवीको प्राप्त हों। इतना ही क्यों! पृथिवीपर आकर सुवर्चाः—सुवर्चसा। तृतीयार्थे प्रथमा शोभन दीप्तियुक्ततन्वा—सुन्दर कान्तिवाले शरीरसे संगत हों, अर्थात् पितृलोकसे पृथिवीमें लौटकर सुन्दर शरीरको धारण करें।'

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः॥
(ऋग्वेद १०। १६। ५; अथर्व १८। २। १०; तै० आ० ६। ४। २)

(व्याख्या) हे अग्ने! यः—जो मृत पुरुष, ते—तुझे, आहुतः—चितामें वेदमन्त्रसे समर्पण किया गया है एवं 'स्वधाकार' उच्चारणपूर्वक समर्पित उदकादिके सहित 'चरति'—इधर-उधर चक्कर काट रहा है, उसे 'पितृभ्यः—पितरोंकी प्राप्तिके निमित्त अर्थात् पितृलोककी प्राप्तिके लिये, पुनः अव 'सृज'—फिर प्रेरित करें। पितृलोकमें कर्मभोगके अनन्तर वह पुरुष हे जातवेद! आपकी कृपाद्वारा शरीरसे, 'संगच्छताम्'—संगत हो, अर्थात् पितृलोकसे प्रत्यावृत्त हो शरीर धारण करे। यही क्यों, आपकी कृपासे 'आयुर्वसानः'—जीवनको धारण करनेवाला, दीर्घायुः शेष—संतान अपत्य (शेष इत्यपत्यनाम निघन्टु २-२) उपवेतु—उपगच्छतु—उस पुरुषको प्राप्त हो।

तात्पर्य—पृथिवीपर शरीर धारण करके पितृलोकसे लौटा हुआ पुण्यात्मा पुरुष दीर्घजीवी पुत्ररत्नको प्राप्त हो। अथवा शेष भुक्तकर्म उस पितृलोकसे प्रत्यावृत्त पुरुषको उपवेतु—उपगमयतु—पृथिवीपर शरीर धारण करायें और वह आयु-

वैसान-आयुयुक्त दीर्घजीवी हो, पृथिव्यां तिष्ठ इति अध्याहारः— पृथिवीमें रहे।

इन मन्त्रोंसे मृतात्माके लोकान्तरमें पहुँचने और प्रत्यावृत्त होकर पृथिवीमें शरीर धारण करनेका स्पष्ट वर्णन है। प्रसन्नताकी बात है कि जब हमने वैदिक संहिताओंमें परलोकसम्बन्धी खोज आरम्भ की, तब एक-दो नहीं, असंख्य मन्त्र अहं-अहमिकासे उपस्थित हुए। तब हमें निःसीम आश्चर्य हुआ। भगवान् वेद विश्वकल्याणके लिये जिन पदार्थोंका प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे ज्ञान सम्भव नहीं, उनकी अवगति करानेमें सर्वथा सचेष्ट हैं। इसी अभिप्रायकी अभियुक्तोक्ति है—

प्रत्यक्षेणानुमानेन यस्तूपायो न बुद्ध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

'प्रत्यक्ष वा अनुमानसे जिस अलौकिक साधनका ज्ञान अशक्य है, उसे वेदके द्वारा ही मनुष्य जानते हैं। यही वेदका वेदत्व है।'

वेदवर्णित यमालय तथा उसके स्वामी यमराज एवं उसके द्वारा पापकी जाँच कर नरकगतिके निर्णयका उल्लेख वेदान्तदर्शनमें ३। १। १३, १४ तथा १५ सूत्र तथा उनके भाष्यमें द्रष्टव्य है।

'संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्।'
'स्मरन्ति च।' 'अपि च सप्त।' 'पूषा त्वेतः।'
(ऋग्वेद १०। १७। ३; अथर्व० १८। २। ५४; तै० आ० ६। १। १; निरुक्त ७। ९)

'द्यौर्मे पिता जनिता।'
(ऋग्वेद १। १६४। ३३; अथर्व० ९। १०। १२; निरुक्त० ४। २१)

पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनुषिच्यते।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत्॥
(अथर्व० ६। ११। २)

इत्यादि वेद-मन्त्र पञ्चाग्निविद्याके मौलिक तत्त्व तथा परलोकसम्बन्धी तथ्योंकी जानकारीके लिये विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। विस्तारभयसे उनकी व्याख्या नहीं की गयी।

सुबन्धु-उपाख्यान, ऋग्वेदीय १० वें मण्डलके सूक्त ५७ से ६० तक ४ सूक्तोंसे सम्बद्ध है। उन सूक्तोंकी क्रमशः ऋचाएँ ६, १२, १० तथा १२—संकलित ४० हैं। उस उपाख्यानके परिशीलनसे परलोकसम्बन्धी मनोरञ्जक तथ्य अवगत होते हैं। नीतिमञ्जरी, सामवेदीय शाट्यायण ब्राह्मण, बृहद्देवता, कात्यायन ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी तथा सायण भाष्य उसके आधार हैं।

हमारे प्राचीन महर्षियोंको एक अपूर्व विद्या अवगत थी, जिसके द्वारा वे मृत व्यक्तिके जीवात्माको जिस शरीरसे वह उत्क्रान्त हुआ है, उसीमें फिरसे आह्वान कर सकते थे।

अस्याति राजा मानवी असुरोंके मायाजालमें फँस गये और अपने कुलगुरु पुरोहितोंको छोड़कर कीराताकुली नामक मायावी असुरोंको उन्होंने अपना पुरोहित बनाया। इससे क्रुद्ध होकर उसके सुबन्धु, बन्धु, श्रुतबन्धु तथा विप्रबन्धु— इन चार पुरोहितोंने अभिचार-प्रयोगसे राजाका अनिष्ट करना चाहा। राजाके द्वारा उसकी सूचना नवनियुक्त असुर पुरोहितोंको दी गयी। उन्होंने अपनी माया तथा योगशक्तिसे प्राचीन पुरोहितोंके अभिचार-प्रयोगको निष्फल बना दिया तथा राजाका बाल बाँका नहीं हो सका। प्राचीन पुरोहितोंके समक्ष एक नया संकट उपस्थित हुआ। असुर पुरोहितोंने सुप्त—असावधान उनके सुबन्धु भ्राताके प्राणोंको हरण कर लिया। वे स्वदृष्ट उक्त सूक्तोंके प्रभावसे सुबन्धुके निर्गत प्राणोंको वापस बुलानेमें सफल हुए और मृत सुबन्धु चेतनामें आये और जीवित हो गये। तब उनके बन्धु आदि भ्राताओंने सुबन्धुके लब्धसंज्ञ शरीरको हाथसे सस्नेह स्पर्श करते हुए मन्त्र पढ़ा—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥
(ऋग्वेद १०। ६०। १२)

'मेरा हाथ क्या ही सौभाग्यशाली है! यह अत्यन्त सौभाग्यशाली है, यह सबके लिये भेषज है। इसके स्पर्शसे कल्याण होता है।'

अथर्ववेदमें भी जब मनुष्यकी आयु क्षय हो रही हो, मरणोन्मुख दशामें उसका कण्ठ कफावरोधके कारण भयंकर शब्द कर रहा हो एवं मनुष्य ऊर्ध्व श्वास ले रहा हो या उसके प्राण शरीरसे विदा हो गये हों, उसे दीर्घजीवी बननेके लिये मन्त्र है—

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो
यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्था-
दस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥
(अथर्व० ३ । ११ । २)

"यदि आयु क्षीण हो चुकी हो, अथवा प्रेत मर गया है या मृत्युके समीप ही पहुँचा गया है, इस 'अस्पार्श' निर्जीव पुरुषको मृत्युके मुखसे मैं 'आहरामि'—वापस ला रहा हूँ; जिससे वह, 'शतशारदाय'—सौ वर्षतक जीवित रहे।"

श्रीकृष्ण प्रभुने मृत गुरुपुत्र, मृत अपने भ्राता देवकीके छः पुत्रों तथा मृत ब्राह्मण-पुत्रोंको वापस लाकर हमारी मृतसंजीविनी वेदविद्याके अद्भुत चमत्कारका ही प्रदर्शन किया है। श्रीमद्भागवतमें इन वृत्तान्तोंका विस्तृत वर्णन द्रष्टव्य है।

पुनर्जन्मके सिद्धान्त

(लेखक—पूज्यपाद श्री १००८ श्रीस्वामीजी महाराज श्रीपीताम्बरापीठ)

प्राचीन समयसे ही पुनर्जन्मके सिद्धान्तमें मतभेद चला आ रहा है। कुछ लोग यह मानते हैं कि शरीरके मरनेपर आत्मा भी मर जाता है और कुछ लोगोंका मत है कि मृत्यु शरीरकी ही होती है, आत्मा अमर है, नित्य सच्चिदानन्दस्वरूप है। इसीका निर्णय करानेके लिये नचिकेताने यमसे कहा था, जिसे—

'अस्तीति एके नायमस्तीति चैके।'
(कठ० १ । १ । २०)

—इस कठ-श्रुतिद्वारा व्यक्त किया गया है। मृत्युतत्त्वके अधिष्ठाता यमने नचिकेताके प्रश्नकी कठिनताको जानकर, अनेक प्रलोभनोंद्वारा उसे इस प्रश्नसे हटाकर किसी अन्य वरदानके लिये कहा; क्योंकि यह प्रश्न बहुत ही दुरूह है एवं सर्वसाधारण इसे नहीं समझ सकते। यह विषय कठोपनिषद्के प्रथमाध्यायकी प्रथम वल्लीमें बताया गया है। इस विषयको, ब्रह्मविद्या प्राप्त होनेपर योगविधिके द्वारा ही जाना जा सकता है। इसको अनेक उदाहरणोंद्वारा बताया गया है। इसलिये अन्तमें कहा है—

विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
(कठ० २६ । १८)

योगदर्शनमें इस विषयके सूत्रपर कहा गया है—

संस्कारसाक्षात् करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।
(३ । १८)

'संस्कारोंके साक्षात्कार होनेपर ही पूर्वजातिका ज्ञान होता है।' जो लोग इस पुनर्जन्मके सिद्धान्तपर केवल पुस्तकोंके पठनमात्रसे या सुनी-सुनायी बातोंद्वारा अपनी राय दिया करते हैं, उनका कथन वास्तवमें भ्रान्तिसे रहित नहीं हो सकता। बहुतसे लोग तर्कद्वारा इसे जानना चाहते हैं। तर्क तत्त्वनिर्णयका एक साधन अवश्य है, तथापि सारे विषयोंका निर्णय तर्कसे ही नहीं हो सकता। इस पुनर्जन्मके विषयमें तर्ककी अनुपयोगिता बतायी गयी है—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठ० २ । ९) कहा गया है। पुनर्जन्मकी प्रत्यक्ष घटनाएँ भी घटती रहती हैं, जिन्हें प्रत्यक्षरूपमें देखा जा सकता है। विद्वानोंने तर्कसे भी इसे सिद्ध किया है। एक बार प्लेटोने सुकरातसे पूछा कि 'आप सभी विद्यार्थियोंको एक-सा ही पाठ पढ़ाते हैं, तथापि कोई विद्यार्थी एक बारमें, कोई दो बारमें, कोई तीन-तीन बारमें पाठको जान पाते हैं और कोई दस बारमें भी नहीं समझ पाते, इसका क्या कारण है?' सुकरातने इसका उत्तर दिया कि 'जिन लोगोंने पहलेसे ही अभ्यास किया है, उन्हें जल्दी ही समझमें आ जाता है और जिन्होंने कम किया है उन्हें देर लगती है तथा जिन्होंने समझना आरम्भ ही किया है, उन्हें और भी अधिक देर लगती है।' यह कथन पूर्वजन्मसे ही सम्बन्धित है। बिना पुनर्जन्म माने इस भेदका युक्तिसंगत उत्तर नहीं हो सकता।

इस्लाम-ईसाई धर्मोंमें पुनर्जन्म न माननेका कारण योग एवं आत्मविद्याका अभाव ही है; तथापि पुनर्जन्मकी घटनाएँ तो उनके सामने भी आती हैं। भारतवर्षमें जैन, बौद्ध, अवैदिक मतोंमें भी पुनर्जन्म स्वीकार किया गया है। केवल चार्वाकने अर्थ-काम,-दृष्टिकी मुख्यतासे धर्म एवं मोक्षको नहीं स्वीकार किया है। चार्वाक-दर्शनमें पुनर्जन्मके सिद्धान्तका विरोध किया गया है। विदेशोंमें

भी मार्क्सके सिद्धान्तके अनुसार पुनर्जन्मके सिद्धान्तको व्यर्थ और झूठा बताया गया है। बहुतसे पाश्चात्य विद्वानोंने भी आर्यजातिके मान्य वैदिक ग्रन्थोंमें भी ऐसा सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि "पुनर्जन्मका यह सिद्धान्त प्राचीन समयका नहीं है; क्योंकि वैदिक संहिता-ग्रन्थोंमें इसे नहीं माना गया है। इस सिद्धान्तको बादमें साम्राज्यवादी क्षत्रियोंने स्वीकार करके साम्राज्यवाद एवं कैपिटेलिस्टवादके आश्रयरूपसे प्रवृत्त किया है; क्योंकि छान्दोग्योपनिषद्के अश्वपति-जैविलि-संवादमें एवं श्रीभगवद्गीता (२।२२) में भी उसीका अनुसरण किया गया है। 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय' आदि श्लोक श्रीकृष्ण एवं अर्जुनके संवादमें बताये गये हैं। यह भी क्षत्रियोंका सिद्धान्त है, जो कि क्षत्रियोंद्वारा ही समर्थित है।"

परंतु यह आक्षेप सर्वथा निराधार है कि पुनर्जन्मका सिद्धान्त साम्राज्यवादियों एवं कैपिटेलिस्टोंका है। वैदिक संहिता-ग्रन्थोंमें यह सिद्धान्त नहीं है—यह कथन भी प्रमाणरहित है। अथर्ववेदके अठारहवें काण्डमें अनेक मन्त्र पुनर्जन्मके समर्थक आये हैं, जिनका पाठ ऋग्वेद एवं यजुर्वेदमें भी आया है। यहाँपर एक मन्त्र उदाहरणके रूपमें लिखा जा रहा है, जिससे यह सिद्धान्त स्पष्ट ज्ञात होगा। ऋग्वेद एवं यजुर्वेदमें भी इसका पाठ आया है—

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातं सचेमहि। (ऋ० १०।५७।५; यजुर्वेद ३।५५)

'मैं पुनः-पुनः माता-पिताको प्राप्त करूँ, दिव्यजन होकर जीवके विग्रहको प्राप्त करूँ।' गीता (४।९) में भी दिव्य जीवनकी बात कही गयी है—'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' आदि श्लोकमें नारायणके दिव्य पुनर्जन्मकी कथाएँ अनादिकालसे ही प्रसिद्ध हैं। अन्तर केवल इतना है कि जीव अविद्यामें हैं और ईश्वर अविद्यासे मुक्त है। बार-बार जन्म दोनोंके होते हैं।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ४।५)

'हे अर्जुन! हमारे और तुम्हारे बहुत-से जन्म व्यतीत हो चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते; (क्योंकि मैं विद्यातत्त्वसे युक्त हूँ और तुम अविद्यामें हो)।'

यह क्षत्रियोंका ही सिद्धान्त है। यह कथन सर्वथा अयुक्त है। कठोपनिषद्, मुण्डक आदि उपनिषदोंमें क्षत्रियों एवं कैपिटेलिस्टोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। उनमें पुनर्जन्मके सिद्धान्त स्पष्टरूपसे बताये गये हैं। वास्तवमें यह एक पूर्ण सत्य है, जिसका किसी वर्गविशेषसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

जीवका स्वरूप और पुनर्जन्म

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥
(ऋ० १।१६४।२०; मुण्डक० ३।१।१)

'दो पक्षी एक वृक्षपर बैठे हुए हैं। एक वृक्षके स्वादिष्ट फलोंको खा रहा है, दूसरा केवल साक्षीरूपसे देख रहा है।' इस मन्त्रमें ईश्वर एवं जीवका स्वरूप बताया गया है। राग-द्वेषमय अविद्याके साथ अभ्यास होकर, अहं-ममके अभिमानसे जीव सांसारिक सुख-दुःखोंमें बँधा हुआ है। यह व्यवहार कबसे हुआ, इसके आरम्भका ज्ञान न होनेसे इसे अनादि बताया गया है—

'नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।'

इसे ही भगवद्गीता (१५।३) में स्वीकार किया गया है। सत्त्व, रज, तम—इन त्रिगुणोंके प्रभावसे जीव ऊँच-नीच कर्मोंको करता है और उसीके अनुसार अनेक योनियोंमें घूम रहा है। यही पुनर्जन्मका कारण है। इसीको यमने कहा है—'पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।' (कठ० १।२।६)

'बार-बार रागद्वेषात्मक कर्मफलोंमें आसक्त रहनेसे जीव जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहकर हमारे वशमें रहते हैं।' जो लोग सात्त्विक कर्म करते हैं, उन्हें ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है, राजस लोग मध्यम गतिवाले हैं तथा तामस लोग जघन्य योनियोंको प्राप्त होते हैं। छान्दोग्योपनिषद्में पञ्चाग्नि-विद्यारूपसे यह विषय बताया गया है। यदि पुनर्जन्म नहीं माना जायगा तो सांसारिक व्यवस्था सम-विषमरूपसे जो चल रही है, उसका कोई ठीक समाधान हो ही नहीं सकता। किसी भी भौतिक उपायसे यह असम्भव है। संसारमें जहाँ-कहीं यह विषय चल रहा है, वहाँ भी स्वाभाविक भेदभाव विद्यमान है; क्योंकि भेद ही सृष्टिका आधार है। भेदके निवृत्त होनेपर सृष्टि नहीं रहेगी। पुनर्जन्म न माननेवालोंके सामने—अकृताभ्यागम, कृतप्रणाश—नामक दोष पूर्वके विद्वानोंने रखा है, जिसका अर्थ यह है कि यदि पुनर्जन्म न माना जायगा तो जो कुछ मनुष्यको इस जीवनमें मिल

रहा है वह बिना किये हुए ही है। कोई बुद्धिमान्, कोई मूर्ख; कोई धनी, कोई गरीब; कोई महात्मा, कोई दुष्ट आदि भेदोंका समाधान नहीं होगा। वर्तमानमें जो धर्मात्मा शुभ कर्म कर रहे हैं, अधर्मी पापी जो पाप करते हैं, उनका फल उन्हें नहीं मिलेगा; क्योंकि मरनेके पश्चात् फिर जन्म न होनेसे दोनों एकसे ही होंगे। इस अव्यवस्थाको सुलझानेका उपाय पुनर्जन्म है। यह अभिप्राय उक्त युक्तिका है।

आगमके अनुसार जीवका स्वरूप

'न जायते म्रियते वा कदाचित्'—इस गीतावाक्य (२।२२) से आत्माकी उत्पत्ति एवं मरणका निषेध किया गया है। इसपर यह प्रश्न होता है 'तो फिर जन्म-मरण किसका है?' इसके लिये यह अङ्गीकार किया गया है कि जन्म-मरण जीवात्माका है। वास्तवमें जीव भी जन्म-मरणसे रहित ही है। कर्मफल भोगनेके लिये शरीरोंका ही जन्म-मरण होता है, तथापि शरीरका सम्बन्ध होनेसे आत्मामें गौण रूपमें जीवन-मरण स्वीकार किया गया है। इसके आविर्भावका सिद्धान्त इस प्रकार बताया गया है। सहस्रारके ऊर्ध्व भागमें निर्वाण-शक्तिका ध्यान योगी करते हैं। शिव-शक्ति-सामरस्य भावसे आनन्दबिन्दुका आविर्भाव इसी शक्तिसे होता है, जिसे इस प्रकार कहा गया है—

ज्वलदग्नेर्यथा देवि स्फुरन्ति विस्फुलिङ्गकाः।
तस्माच्च्युतं परं बिन्दुर्यदा भूमौ पतत्यपि॥
तदैव सहसा देवि संज्ञायुक्तो भवत्यपि।

'जैसे प्रज्वलित अग्निसे छोटे-छोटे अग्निकण स्फुरित होते हैं, इसी प्रकार उस परमानन्दस्वरूपिणीसे जीवकण उत्पन्न हुए। अविद्यामें प्रतिफलित होनेसे उसके तमोअंशसे आनन्दांश तिरोहित हो गया है। उसे (आनन्द) प्राप्त करनेके लिये यह जीव सर्वदा लालायित रहता है। यथार्थ ज्ञान होनेपर ही उसे प्राप्त कर सकता है। जबतक अद्वैत-ज्ञान नहीं प्राप्त करता, तबतक पुनर्जन्मका चक्र चलता ही रहता है। मुण्डकोपनिषद्में भी ऐसा ही कहा गया है—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद्
विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥

(मु० २।१।१)

'हे प्रिय! वह केवल परम सत्य ब्रह्मतत्त्व है। उसीसे अनेक भाव प्रकट होकर पुनः उसीमें लय हो जाते हैं, जैसे प्रज्वलित अग्निसे अनेक चिनगारियाँ प्रकट होकर उसीमें समा जाती हैं।'

उपसंहार

संक्षिप्त रूपमें पुनर्जन्मके उपयोगी सिद्धान्तोंका परिचय दिया गया है। विस्तृत रूपमें पुराण-ग्रन्थोंमें जो अनेक लोक-लोकान्तरोंका वर्णन मिलता है, वह भी पुनर्जन्मके सिद्धान्तोंके ही आधारपर है। शुभकर्म, उपासना, योगके द्वारा इन्हें जीवात्मा अपनी योग्यताके अनुसार प्राप्त करता है। दक्षिणायन एवं उत्तरायण गतिका वर्णन भी इसीसे सम्बन्ध रखता है। इन दोनों गतियोंसे भिन्न सगुण ब्रह्मलोककी प्राप्तिके भी सिद्धान्त हैं, जिन्हें जानकर सगुण ब्रह्मलोक प्राप्त करके अपने वास्तविक आनन्दरूपको प्राप्त कर सर्वदाके लिये सांसारिक दुःखोंसे जीव छूट जाता है। यही इस जीवनका लक्ष्य है। निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति भी, जिसे अद्वैत-बोध रूपसे बताया गया है। उसके लिये किसी लोकलोकान्तरकी अपेक्षा नहीं है।

कौन स्वधर्म-भ्रष्ट कैसे प्रेत होते हैं?

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात् स्वकाच्च्युतः। अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः॥
मैत्राक्षज्योतिष्कः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्। चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात् स्वकाच्च्युतः॥

अपने धर्मसे च्युत ब्राह्मण वान्तभोजी (वमन खानेवाला), ज्वालायुक्त (जलते) मुँहवाला प्रेत; स्वधर्मच्युत क्षत्रिय अपवित्र (विष्ठादि) तथा शवको खानेवाला कटपूतन नामक प्रेत; स्वधर्मभ्रष्ट वैश्य पीब खानेवाला 'मैत्राक्षज्योतिष्क' नामक प्रेत, और स्वधर्म-भ्रष्ट शूद्र 'चैलाशक' (जूँ खानेवाला) नामक प्रेत होता है (मनुस्मृति १२।७१-७२)।

द्वन्द्वमयी सृष्टि

(लेखक—श्रीस्वामीजी श्रीप्रेमानन्दतीर्थजी महाराज)

[प्रेषक—श्रीओङ्कारनाथजी मुद्गल]

सृष्टि-रचनाके लिये 'एक' को 'बहु' होना होगा, बहुरूपी स्वाँग बनाने होंगे, देवासुररूपमें प्रकट होना होगा, द्वन्द्वभावके माध्यमसे बाहर निकलना होगा और जन्म-मृत्युद्वारा परिणति प्राप्त करनी होगी । । नाटकमें जितनी रामकी आवश्यकता है, रावणकी उससे किंचिन्मात्र भी कम नहीं है; और दोनोंके बीचमें रहेगी—महामाया सीतादेवी एवं इसके भीतर आ जायगा एक, असम्भव स्वर्णमृग-रहस्य । तभी तो रामलीलाका खेल सुचारु रूपसे होगा । नाटक देखकर तुम बाहरका लीलातत्त्व तो कुछ समझ गये; अब एक बार साधनबलसे नेपथ्य (green room) में जाकर स्वरूप-तत्त्वको समझनेकी चेष्टा करो । यदि किसी प्रकार वहाँ पहुँच सको तो देखोगे कि न राम राम हैं, न रावण रावण है और न सीता सीता ही । वहाँ न कोई भेद-भाव है, न झगड़ा-विवाद । जो कुछ गड़बड़ी है वह रंगमंचपर और वह भी सबको आनन्द देनेके लिये, लीलामयकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये । जिसने एक बार वेशस्थानमें जाकर स्वरूपको देख लिया, स्वाँगके भीतरके असली मनुष्यको पहचान लिया, असली मनुष्यके भीतरके उद्देश्यको जान लिया, उसके लिये सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है । उसके भाव-कर्म-वचनमें आनन्दके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलेगा ।

और जिसने स्वाँगको ही सार मान लिया है, जो लीलाके रहस्यको समझ नहीं सका, स्वरूपको जाननेकी कोई चेष्टा नहीं की; वह घात-प्रतिघातद्वारा कल्पित द्वन्द्वके प्रभावसे, संसारके थपेड़ोंसे, विचलित होता रहेगा—इसमें क्या संदेह हो सकता है । परंतु ज्ञानीजन सुन्दर रूपसे जानते हैं कि संसारके सब सुख-दुःख, हँसने-रोनेके माध्यमसे भगवान् जीवको ज्ञान दानकर, स्वरूप-प्रतिष्ठकर, आनन्दमें विभोर करनेकी चेष्टा कर रहे हैं । बुरेके बिना अच्छेका, अन्धकारके बिना प्रकाशका मूल्य ठीकसे समझना कठिन है । हिरण्यकशिपुने प्रह्लादके चरित्रको किस प्रकार प्रकाशित—अनुभव-योग्य किया, यह वास्तविक साधकके अतिरिक्त अन्य लोगोंके लिये समझना और सब समय याद रखना सहज नहीं ।

साधु शिक्षा देता है—विध्यात्मकरूपसे । वह बता देता है कि किस प्रकार जीवनमें चलनेसे उन्नति, शान्ति, भगवत्-प्राप्ति-लाभ की जा सकती है । और असाधुकी शिक्षा निषेधात्मक होती है । वह अपने चरित्रद्वारा दिखा देता है कि कुपथमें जाने और कुकर्म करनेका कैसा भीषण परिणाम होता है—उन्नति, शान्ति और आनन्दसे किस प्रकार वञ्चित होना पड़ता है । साधु हाथ पकड़कर ले जाता है और असाधु पद-पदपर सावधान करता है । दोनों ही हमारे कल्याणमें सहायक और आवश्यक हैं । सिद्ध महात्मा मौलाना रूमीने पापी-तापी-दुराचारीको गुरुरूपमें ग्रहणकर प्रणाम किया । सभी देशोंके साधकोंने असाधुकी शिक्षाको स्वीकार किया है ।

सच्चे साधकको जन्म और मृत्यु दोनों आत्माके क्रम-विकासमें सहायक होनेके कारण समान रूपमें गृहीत हैं; उसकी आनन्द-अनुभूतिमें—भगवत्-लीलारस-आस्वादनमें सहायक हैं । ज्ञानीके ज्ञानद्वारा और अज्ञानीकी अज्ञताद्वारा भगवत्-उद्देश्य किस प्रकार सफल हो रहा है; देवासुर-युद्धके द्वारा उनके स्वर्गकी पवित्रताकी किस प्रकार रक्षा हो रही है; द्वन्द्वभावके द्वारा उनकी महिमा किस प्रकार घोषित हो रही है, उनका लीलारस अनुभववेद्य हो जाता है, यह साधकके अतिरिक्त अन्य लोगोंके लिये समझना वास्तवमें कठिन है ।

अत्यंत स्वार्थचालित विषयलोलुप व्यक्ति यदि जन्म-मृत्युरहस्य और जन्म-जन्मान्तरीय सम्बन्ध जाननेमें समर्थ होता तो उसके लिये संसारमें रहना कठिन ही नहीं, प्रायः असम्भव हो जाता । पूर्वजन्ममें कौन उसका मित्र था कौन शत्रु, किससे क्या सम्बन्ध था, यदि ये सब बातें असाधकको याद रहती तो उसके लिये अपने वर्तमान जन्मके अनुकूल सब कार्योंका ठीकसे निर्वाह करना भयानक कष्टकर और अशान्तिप्रद हो जाता । अनधिकारीके लिये दिव्य शक्तियाँ कैसी विडम्बना और अशान्तिका कारण होंगी, यह हम अनेक समय समझ नहीं पाते । जिस माँका एकमात्र उद्देश्य है अपनी संतानको खिलाना, पहनाना, सर्वदा आनन्दमें

रखना, वह माँ क्यों अपनी एकमात्र संतानको कड़वी औषध जोर करके खिलाती है, अच्छी-अच्छी खानेकी चीजें उससे छिपाकर रखती है—इस बातको क्या अबोध बालक समझनेमें समर्थ होता है अथवा समझकर माँ-बापके प्रति कृतज्ञ रहता है ? किंतु सच्चा साधक जानता है कि माँका समस्त ऐश्वर्य, माधुर्य, सुख, शान्ति संतानके कल्याण और आनन्दके लिये है।

माँ प्रकृतिदेवी जब देखेगी कि तुमने साधनाके द्वारा सब चीजोंका सद्व्यवहार करना सीख लिया, सब प्रकारके आनन्दास्वादनका सामर्थ्य लाभ कर लिया, तुम्हारे द्वारा अब अपना या और किसीका अनिष्ट होनेकी सम्भावना नहीं है; तब वे अपने अक्षय भण्डारकी सारी चाभियाँ तुमको देकर सुख अनुभव करेंगी। किंतु जबतक तुम्हारे भाव, वचन या कर्मसे किसीका भी अनिष्ट होनेकी सम्भावना है, तबतक प्रेममयी माँ अपने भण्डारकी बहुमूल्य चीजें तुम्हारे लिये अस्वास्थ्यकर, कष्टप्रद जानकर तुमसे दूर हटाकर रक्खेंगी। ऐसी अवस्थामें, शायद तुम भी यह अस्वीकार न करोगे कि तुमको कठोर विधान पालनकर संयमपूर्वक चलना चाहिये। जो माँ असुरोंके लिये असि-मुण्डधारिणी हैं, दुष्टोंके दलनमें व्यस्त हैं, वही माँ देवताओंको वर-अभय प्रदान करनेवाली हैं; संयत साधु महात्माओंकी रक्षामें तत्पर हैं।

विचारपूर्वक समझनेकी चेष्टा करो कि हम क्यों माँके जन्म-मृत्युरूपी ऐसे सुन्दर कौतुकको भयकी दृष्टिसे देखते हैं ? अपनी आँखोंको प्रेम-यमुनाके जलसे धोना शुरू करो, मनको संस्काररूपी आवर्जनासे मुक्त करो और बुद्धिको ज्ञान-गङ्गाके जलसे शुद्ध करो। एक दिन जब माँकी कृपासे तुम्हारी दिव्य दृष्टि खुल जायगी, तब देखोगे कि माँ कैसी सुन्दरी, आनन्दमयी, दयामयी, प्रेममयी हैं। तब माँके सृष्टिरहस्य, जन्म-मृत्युलीला, सुख-दुःखतत्त्वसे अवगत होकर तुम आनन्द-विभोर हो जाओगे। तब मृत्यु तुम्हें भय नहीं दिखा सकेगी। ('जन्म-मृत्यु' नामक पुस्तकाकार पत्रावलीसे)

पागलकी झोली

[परम पद]

(लेखक—महात्मा अनन्तश्रीविभूषित ठाकुर श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ महाराज)

पागल हाथसे ताली बजाते हुए नाच-नाचकर राम-राम बोल रहे हैं। उसी समय हलधर आकर कुछ देर नामोच्चारमें शामिल होकर कहने लगे—'अच्छा, पागल बाबा ! यज्ञोपवीत होनेके बाद '**ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।**' (यजुर्वेद ६।५)—यह मन्त्र बोलकर आचमन करते हैं, इसका अर्थ क्या है ?'

पागल—राम-राम सीताराम। तत्त्वदर्शी लोग विष्णुके उस परमपदको सर्वदा देखते हैं। कैसे देखते हैं ?—आकाशमण्डलमें विस्तारित आँखें जैसे अबाधरूपसे आकाशकी सारी शोभा देखती हैं, उसी प्रकार वे परमपदकी शोभाको देखते हैं। राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

हलधर—परमपद किसे कहते हैं ? तत्त्वज्ञानी लोग कैसे उसकी शोभा देखते हैं ?

पागल—राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। परमपद कहते हैं—परमाकाश परव्योमको। साधनाके द्वारा भक्त और ज्ञानी लोग उस परमपदको देख पाते हैं। राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। श्रीभगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा था कि 'उनका वह रूप अङ्ग-प्रत्यङ्गके अनुरूप है। श्रीसम्पन्न प्रशान्त सुन्दर मुख है। चारों भुजाएँ दीर्घ और मनोज्ञ हैं, ग्रीवा रमणीय और मनोहर है, कपोल सुरम्य है। वदन सहास्य और चित्ताकर्षक है, दोनों कानोंमें मकराकृति कुण्डल हैं, सुवर्ण वसन पहने हैं, चरणयुगलमें शब्दायमान नूपुर हैं, श्यामघनके समान श्याम वर्ण हैं, लक्ष्मीजीके द्वारा सेवित हैं और श्रीवत्ससुशोभित वक्षःस्थल है। चारों हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं तथा गलेमें वनमाला और प्रभावशाली कौस्तुभ लटक रहा है, मस्तकपर कान्तिमान् किरीट है और बाहुमें सम्यक् रूपसे सुशोभित अङ्गद है। कटिमें मेखला है, मुख और दृष्टि प्रसन्नतापूर्ण हैं। इस प्रकार सर्वाङ्गसुन्दर मेरे रूपका अभिनिवेशपूर्वक ध्यान करे। धीरतापूर्वक मेरे सर्वाङ्गमें मनको लगाये रक्खे। मनके द्वारा सारी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर शुद्ध मनसे बुद्धिरूप सारथिके द्वारा आकृष्ट करके मुझमें लगा दे। मनको अन्य चिन्ताओंसे दूर रक्खे, केवल मेरे मनोहर

हास्ययुक्त मुखका चिन्तन करे। पश्चात् मनको खींचकर कारणोंके कारण आकाशमें स्थापन करे—

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।

(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । ४४)

उसे त्यागकर जो आदमी मुझमें आरूढ़ होना चाहता है, वह केवल मेरा ही चिन्तन करे। राम-राम सीताराम। ध्यानके समय जो आकाश उपस्थित होता है, उस आकाशको ही परमपद कहते हैं। राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

हलधर—जिस आकाशको हम देखते हैं, इसीका नाम परमपद है?

पागल—राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। नहीं, परमपद इन आँखोसे नहीं देखा जाता। आँखें मूँदकर ज्ञाननेत्रसे उसे देखना पड़ता है। वह परमपद सबका काम्य है। भक्त सगुण मन्त्र जप करता है। सगुण-साक्षात्कारके बाद मन्त्र लय हो जाता है, ॐकारकी प्राप्ति होती है। उसकी सुषुम्णामें नादात्मक ॐकार अबाध गतिसे निरन्तर क्रीड़ा करता है। उस नादको सुनते-सुनते आकाश उपस्थित होता है। कोई उसको विराट् कहता है, कोई महान् कहते हैं, कोई उसको परमपद कहते हैं। राम-राम सीताराम। शास्त्रमें परमपदका अनेक रूपोंमें वर्णन किया गया है। राम-राम सीताराम।

हलधर—बतलाइये न, शास्त्र क्या कहते हैं?

पागल—

अविकारमजं शुद्धं निर्गुणं यन्निरञ्जनम्।
नताः स्म तत् परं ब्रह्म विष्णोर्यत् परमं पदम्॥

(विष्णुपुराण १ । १४ । ३८)

'जो अविकार, अज, शुद्ध, निर्गुण और निरञ्जन विष्णुका परमपद है, उस परब्रह्मके प्रति हम नत होते हैं।' राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

हलधर—आपने आकाशको परब्रह्म कहा है?

पागल—राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। श्रुति कहती है—

यद् वै तद् ब्रह्मेती' वाव तद् योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै सः।

(छान्दोग्य० ३ । १२ । ७)

'पहले जिसको ब्रह्मरूप बतला चुके हैं, वही देहके बाहर विद्यमान आकाश है। देहके बाहर जो आकाश है, वही आकाश शरीरके भीतर है। देहके भीतर जो आकाश है, वही आकाश हृदयकमलके भीतर है; यह हृदयाकाश नामक ब्रह्म पूर्ण और प्रवृत्तिहीन है। जो इस प्रकार ब्रह्मको जानता है, वह पूर्ण और अविनाशी ऐश्वर्य प्राप्त करता है।' राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

हलधर—आकाशको देखनेसे ब्रह्म देखा जाता है?

पागल—ब्रह्माकाश आँखोंसे नहीं देखा जाता। ब्रह्माकाश भूताकाशको व्याप्त करके स्थित है। राम-राम सीताराम। 'मनो ब्रह्म' अध्यात्म उपासना है। 'आकाशो ब्रह्म' अधिदैवत उपासना है। मन ब्रह्मके चार पद हैं—वाक्, नासिका, चक्षु और श्रोत्र; तथा आकाश ब्रह्मके चार पद हैं—अग्नि, वायु, सूर्य और दिक्। राम-राम सीताराम। यहाँ ब्रह्मके प्रतीकरूपमें मन और आकाशको ब्रह्म कहकर उपासनाकी बात कहते हैं। राम-राम।

हलधर—श्रुति आकाशको ब्रह्म कहती है?

पागल—ॐ ही आकाश ब्रह्म है, आकाश चिरन्तन है। कौरव्यायनी-पुत्र कहते हैं कि वायुका आधार ही आकाश है। (बृहदारण्यक०) राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता। ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा।' (छान्दोग्य० ८ । १४ । १)

'जो आकाश नामसे प्रसिद्ध है, वही नाम-रूपको अभिव्यक्त करता है। वही ब्रह्म है, वही अमृत है, वही आत्मा है' राम-राम सीताराम।

हलधर—परमपदकी बात कहिये।

पागल—राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। दूसरे स्थानमें श्रुति कहती है—

निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम्॥

(ब्रह्मबिन्दु० ४)

'विषयोंके भोगकी अभिलाषा निरस्त हो जानेपर, मनको हृदयमें पूर्णतः निरुद्ध करनेपर जब मन उन्मनीभावको प्राप्त होता है, तब उस अवस्थाको परमपद कहते हैं। राम-राम सीताराम।

हलधर—उन्मनीभाव किसको कहते हैं?

पागल—राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

संकल्पशून्यताका नाम उन्मनीभाव है। राम-राम सीताराम। ॐकारका नाम भी परमपद है—

सर्वंतातः सर्वधर्त्ता जगद्बुध्नो जगन्निधिः।
जगद्वीचितरङ्गाणामाधारं परमं पदम्॥
(प्रणवकल्प)

प्रणवकी नवमी मात्रा शान्त, निर्मल आकाश है। राम-राम सीताराम।

हलधर—तब तो तरङ्गशून्य शान्त अवस्थाका नाम परमपद है?

पागल—

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥
तन्मनो विलयं याति तद् विष्णोः परमं पदम्॥
(उत्तरगीता)

'अनाहत शब्दकी जो विशेष ध्वनि होती है, उस ध्वनिके अन्तर्गत जो ज्योति है, उस ज्योतिके अन्तर्गत जो मन होता है, वह मन जहाँ विलयको प्राप्त होता है, वह स्थान ही विष्णुका परमपद है। राम-राम सीताराम।

हलधर—मनोलय विष्णुका परमपद है?

पागल—राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद् योगिनां मुक्तये भवति। बन्धनायाधो मूढानाम्। इडादिमार्गद्वयं विहाय सुषुम्नामार्गेणागच्छेत् तद् विष्णोः परमं पदम्।
(शाण्डिल्योपनिषद् १।१७)

'वह कुण्डलिनी शक्ति यदि कण्ठके ऊर्ध्वभागमें निद्रित रहती है तो वह योगियोंके लिये मुक्तिका कारण बनती है और अधोभागमें मूढ़ लोगोंके बन्धनका हेतु होती है। निद्रा टूटनेपर यह इडा-पिङ्गला मार्गको त्याग करके सुषुम्णा मार्गसे गमन करती है। यही विष्णुका परमपद है। राम-राम सीताराम।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम्॥
(हठयोगप्रदीपिका)

ज्योतिर्मयी सुषुम्णा नाड़ीको पकड़े, वही विष्णुका परमपद है। राम-राम सीताराम!

हलधर—सुषुम्णाको ही आपने परमपद कहा?

पागल—राम-राम सीताराम। हाँ, सीताराम।

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम्॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः॥
(हठयोगप्रदीपिका)

'राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या—ये शब्द एकार्थवाचक हैं।' राम-राम सीताराम।

हलधर—एक परमपद इतने नामोंसे पुकारा जाता है! अच्छा, पागल बाबा! सुषुम्णामें प्रवेश करनेसे ही क्या परमपद प्राप्त हो जाता है?

पागल—राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। नहीं, सीताराम। सुषुम्णामें प्रवेश करके जब कुण्डलिनी सहस्रारमें परम शिवके साथ मिलती है, वास्तविक परमपदकी प्राप्ति तभी होती है। राम-राम सीताराम।

परमं पदमिति च प्राणेन्द्रियाद्यन्तःकरणगुणादेः परतरं सच्चिदानन्दमयं नित्यमुक्तब्रह्मस्थानं परमं पदम्।
(निरालम्बोपनिषद्)

'प्राण-इन्द्रिय आदि अन्तःकरणके गुण आदिके परे सच्चिदानन्दमय नित्यमुक्त ब्रह्मस्थानका नाम परमपद है।'

व्यक्ता तु प्रथमा मात्रा द्वितीयाव्यक्तसंज्ञका।
मात्रा तृतीया चिच्छक्तिरर्द्धमात्रा परं पदम्॥
(मार्कण्डेयपुराण)

'प्रथम मात्रा अकार, पृथिवी, अग्नि, ब्रह्मा आदि व्यक्ता हैं; द्वितीया मात्रा उकार, अन्तरिक्ष, विष्णु आदि अव्यक्ता हैं और तृतीया मात्रा मकार, द्यौ, शिव चिच्छक्ति हैं तथा अर्द्धमात्रा परम पद है।' राम-राम सीताराम।

यद् योगिनः सदोद्युक्ताः पुण्यपापक्षयेऽक्षयम्।
पश्यन्ति प्रणवे चिन्त्यं तद्विष्णोः परमं पदम्॥
(विष्णुपुराण १।९।५४)

'सदा साधनमें उद्युक्त, ध्यानमें निपुण योगीजन पुण्य-पापके क्षय होनेपर प्रणवमें चिन्तनीय विष्णुके उस अक्षय परमपदको देखते हैं।' राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम् ।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ॥

(ध्यानबिन्दूपनिषद् २)

'बीज ॐकार है, उसके परे बिन्दु है और उसके ऊपर स्थित है—नाद । शब्दके साथ अक्षर नादके क्षीण होनेपर शब्दशून्य अवस्थाका नाम परमपद है ।'

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत् ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

(ध्यानबिन्दूपनिषद् २५)

'जो मन सृष्टि, स्थिति और लय करता है, वह मन जहाँ विलय होता है, वही विष्णुका परमपद है ।' राम-राम सीताराम ।

हलधर—सब प्रणवका ही व्यापार देखता हूँ !

पागल—राम-राम सीताराम । जय-जय राम सीताराम । ॐकारके अतिरिक्त क्या और कुछ है ? बाह्यजगत्, अन्तर्जगत्, शब्दजगत्—सब ॐकारसे उद्भूत है और ॐकारमें ही लय हो जायगा । अनन्त कोटि ब्रह्माण्डरूपमें ब्रह्माण्डमें व्याप्त होकर एकमात्र ॐकार ही लीला करता है । जगत्‌में जो कुछ देखनेमें आता है, सब कुछ उस ॐकार पुरुषोत्तमका लीला-विग्रह है । पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, कीट-पतङ्ग, मनुष्य-देवता, पिशाच-राक्षस सब कुछ ॐकार है । धूलके कण या हिमालय पर्वत सब कुछ उस पुरुषोत्तमके लीला-विग्रह हैं । राम-राम सीताराम ।

हलधर—कहिये, परमपदके विषयमें और कुछ कहिये ।

पागल—राम-राम सीताराम । जय-जय राम सीताराम ।

अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते ॥
मकारे लभते नादमर्द्धमात्रा तु निश्चला ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम् ॥
लभते योगयुक्तात्मा पुरुषस्तत् परं पदम् ।

(योगतत्त्वोपनिषद् १३८, १३९, १४०)

'अकारमें पद्म रेचित होता—निकलता है, उकारमें भिन्न होता—खिल जाता है, मकारमें नादको प्राप्त करता है और अर्द्धमात्रा निश्चला होती है । वह विशुद्ध स्फटिकके समान श्वेतवर्ण, निष्कल और पापनाशक होता है । योगयुक्त चित्तवाले पुरुष उस परमपदको प्राप्त होते हैं ।' राम-राम सीताराम । जय-जय राम सीताराम ।

हलधर—और भी कहिये ।

पागल—राम-राम सीताराम । जय-जय राम सीताराम ।

त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्रः संध्यास्त्रयः स्वराः ॥
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे ।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽप्यर्द्धमक्षरम् ॥
तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम् ।

(योगतत्त्वोपनिषद् १३४-१३६)

'भूः, भुवः, स्वः—तीन लोक; ऋक्, यजुः, साम—तीन वेद; प्रातः, मध्याह्न, सायं—तीन संध्या; उदात्त, अनुदात्त, स्वरित—तीन स्वर; गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिण—तीन अग्नि; सत्त्व, रजः, तमः—तीन गुण—ये सब-के-सब अकार, उकार, मकार—इन तीन अक्षरोंमें अवस्थित हैं । इन तीनों अक्षरोंके बीच जो अर्द्धमात्रा है, उसके द्वारा ये सब समाच्छन्न हैं । वही सत्य है, वही परमपद है ।' राम-राम सीताराम ।

हलधर—सब कुछ ॐकारकी लीला है ?

पागल—राम-राम सीताराम । जय-जय राम सीताराम । कन्हैयाके बिना गीत नहीं । सब कुछ प्रणव है ।

लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम् ।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥

(मैत्रायणी उपनिषद् ४ । ७)

'लय-विक्षेपरहित मनको भलीभाँति स्थिर करके जो अमनीभाव उपस्थित होता है, वह विष्णुका परमपद है ।' राम-राम सीताराम । जय-जय राम सीताराम ।

हलधर—इस परमपदको कौन प्राप्त कर सकता है ?

पागल—राम राम सीताराम । जय जय राम सीताराम ।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥

(कठ० १ । ३ । ८)

'जो विज्ञानवान्, अनुभवसम्पन्न, मननशील, नित्यशुचि है, वही उस परम पदको प्राप्त करता है; उसको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ।' राम-राम सीताराम । जय-जय राम सीताराम । बाह्य-विषयका त्याग किये बिना परमपद प्राप्त नहीं होता । राम-राम सीताराम ।

हलधर—यह बड़ी कठिन बात है । 'बाह्य विषय स्मरण न करूँगा ।' यह कहनेपर भी मन बलात्कारसे किसी बहाने विषयमें कूद पड़ता है । वह कौन-सा साधन—अभ्यास है जिससे मन विषयशून्य होता है ?

पागल–राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

केवल नाम-जप करो, नाम-जप करते रहनेपर मनको सहज ही विषयशून्य किया जा सकता है। राम-राम सीताराम।

परमपदप्रतिमो हि साधुसङ्गः। (योगवासिष्ठ ५।२१।७८)

'साधुसङ्ग परम पदके तुल्य है।' राम-राम सीताराम, सीताराम। यदि कुछ न हो सके तो केवल साधुसङ्ग करो। उसीके द्वारा कृतार्थ हो जाओगे। राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

हलधर–साधुसङ्गकी प्राप्तिसे तो सहज ही हो जायगा, परंतु वह भी अतिदुर्लभ है। अच्छा परमपदकी बात करें।

पागल–राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। जगन्माता ही परमपद है।

एषा माहेश्वरी देवी मम शक्तिर्निरञ्जना।
शान्ता सत्या सदानन्दा परं पदमिति श्रुतिः॥
अस्याः सर्वमिदं जातमत्रैव लयमेष्यति।
एषैव सर्वभूतानां गतीनामुत्तमा गतिः॥

(कूर्मपुराण)

'यह माहेश्वरी देवी मेरी निरञ्जना शक्ति हैं, यह शान्ता, सत्या, सदानन्दा हैं, श्रुति इनको परमपद कहती है। इनसे यह सारा जगत् उत्पन्न होता है और अन्तमें इनमें ही लीन होगा। यही सर्वभूतोंकी गति है। उनमें भी सबसे श्रेष्ठ गति है।' राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

हलधर–तब तो जगन्माता ही परम पद हैं!

पागल–राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। सुनो—

तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा।
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत्।
पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति॥

(श्रीमद्भागवत २।१।१९)

'स्थिर चित्तसे एक-एक अवयवका ध्यान करे। निर्विषय मनको उससे युक्त करे। तत्पश्चात् और कुछ स्मरण न करे। वही विष्णुका परमपद है जहाँ मन प्रसन्न होता है।' राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

स च विष्णुः परं ब्रह्म यतः सर्वमिदं जगत्।
जगच्च यो यत्र चेदं यस्मिन् विलयमेष्यति॥
तद्ब्रह्म परमं धाम सदसत् परमं पदम्।

(ब्रह्मपुराण २३।४१-४२)

राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। 'वह विष्णु परम ब्रह्म हैं। जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, जो जगत् है, जिसका जगत् है, जिसमें जगत् विलीन हो जायगा, वही ब्रह्म परम धाम है। वह सत्-असत् परमपद है।' राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। अच्छा और सुनो—

परं गुह्यतमं विद्धि ह्यस्ततन्द्रो निराश्रयः।
सोमरूपकला सूक्ष्मा विष्णोस्तत् परमं पदम्॥

(तेजोबिन्दूपनिषद् १।५)

'अतिशय गुह्यतम, अस्ततन्द्रा, निराश्रय सोमरूप सूक्ष्म कला है, वही विष्णुका परमपद है।' राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

हलधर–शान्त अवस्थाका ही नाम परमपद है। परमपदके और भी नाम हैं?

पागल–राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। वह नित्य विभूति है—आमोद, प्रमोद, सम्मोद, वैकुण्ठरूपमें चार प्रकारका। पुनः अनन्ता, त्रिपाद्विभूति, परमपद, परम व्योम, परमाकाश, अमृत, नाक, अप्राकृतलोक, आनन्दलोक, वैकुण्ठ, अयोध्या आदि भी उसके नाम हैं।

इस विभूतिमें द्वादश आवरणयुक्त गोपुर प्राकारसमूहके द्वारा आवृत वैकुण्ठ नामक नगर है। आनन्द नामक दिव्य आलय है। उसके भीतर रत्नमय सहस्रों स्तम्भोंसे विरचित महामणिमण्डप नामक सभा है। उसमें सहस्र-फण मणि-तेजसे युक्त अनन्त विराजमान हैं। उनपर दिव्य धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्यमय दिव्य सिंहासन है। उसके ऊपर चामरधारिणी विमला, उत्कर्षिणी ज्ञान, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशानीद्वारा सेवित अष्टदल पद्म है। उसके ऊपर शेषनागका प्रकृष्ट धाम है और उसके ऊपर अनिर्वचनीय श्रीभगवान् हैं। (यतीन्द्रमतदीपिका)

हलधर–हे हरि! वैकुण्ठ, परम व्योम, अयोध्या, आनन्दलोक—सब परमपदके ही नाम हैं?

पागल–राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। हाँ, सीताराम। राम-राम सीताराम। पाप-पुण्य और नाना प्रकारके पीड़ा-दुःखोंके कारणोंके निवृत्त होनेपर प्राणी जहाँ गमन करते हैं और शोक नहीं करते, वही विष्णुका परमपद है। धर्म और ध्रुव आदि लोकसाक्षीगण इन्द्रियवशीकरण आदिसे प्राप्त योगबलसे दीप्तिमान् होकर जहाँ धर्माचरण करते हैं,

वही विष्णुका परमपद है। जो आकाशमें प्रकाशमान सूर्य-रूपी चक्षुके समान सर्वभासक, तन्मयचित्त योगीजनको विवेकज्ञानके द्वारा अपरिच्छिन्नरूपमें परिज्ञात होता है वही विष्णुका परमपद है। यह वर्तमान, भूत और भविष्य चराचर जगत् जहाँ ओतप्रोत रहता है, वही विष्णुका परम-पद है—(विष्णुपुराण द्वितीय अंश, अध्याय ८। १००–१०३)

कौषीतकि उपनिषद्में ब्रह्मलोकका वर्णन

अमानव पुरुषके द्वारा ले जाये जानेपर जिसकी प्राप्ति हुई है, जो शास्त्रप्रसिद्ध है तथा ब्रह्मवेत्तागण जिसका स्मरण कर गये हैं; जो आज भी प्रत्यक्षसिद्ध यथार्थरूपमें होनेके कारण उपासकके लिये प्रत्यक्ष सिद्ध है, उस ब्रह्मलोक या हिरण्यगर्भलोकमें प्रविष्ट होनेपर पहले जो ह्रद पड़ता है, उसका नाम है—'आर'। वह 'आर' ह्रद ब्रह्मलोक जानेके मार्गको अवरुद्ध करके स्थित है। वह ह्रद शत समुद्रके समान गहरा है और उसका जल सदा नीला रहता है। काम-क्रोधादि अरिवर्गके द्वारा वह ह्रद विरचित है, अतएव उसका नाम रक्खा गया है 'आर'। उसी आर ह्रदके उस पार मुहूर्त अथवा दण्डद्वय कालके अभिमानी देवता लोग निवास करते हैं। वे देवता किस प्रकारके हैं?

.....'जो लोग ब्रह्मलोकप्राप्तिके अनुकूल उपासनाको काम-क्रोधादि प्रवृत्तिके उत्पादनके द्वारा विनष्ट कर देते हैं। उस ब्रह्मलोकमें उसके बाद जो नदी है, उसका नाम है—'विजरा'। जिसका दर्शन करनेसे जरावस्था नष्ट हो जाती है, उसको 'विजरा' कहते हैं। वह उपासना क्रिया है। उस नदीका नाम भी ऐसा ही है। जो वृक्ष है उसका नाम 'ईला' है। ईला शब्द पृथ्वीका वाचक है। तद्रूप ही सारे वृक्ष हैं। इस वृक्षको अन्य उपनिषद्में 'सोमसवन' नामक अश्वत्थ वृक्ष कहा गया है। बहुत-से लोगोंके निवास योग्य पत्तन 'सालज्य' नामक है अर्थात् साल वृक्षके समान है, धनुषके ज्याके सदृश वस्तु जिसके तीरपर है। अतएव उसको सालज्य कहते हैं। अर्थात् देवताओंके द्वारा सेव्यमान आराम, वापी, कूप, तड़ाग और सरित् आदि विविध जलोंसे परिपूर्ण छोटे-बड़े नगर नगरी वहाँ विराजमान ब्रह्मके निवासस्थल हैं, जहाँ हिरण्यगर्भका राजमन्दिर है। उसका नाम 'अपराजित' है। वह स्थान अनेक सूर्यके समान दीप्तिमान् होनेके कारण किसीके द्वारा पराजित होने योग्य नहीं है, इसी कारण वह 'अपराजित' है। उस अपराजित नामक राजमन्दिरमें जो दो द्वारपाल हैं, उनके नाम हैं—इन्द्र और प्रजापति। स्तनयित्नु (मेघ) और यज्ञको लक्ष्य करके वायु और आकाशको इन्द्र और प्रजापति नामसे कहा गया है। उसके सभास्थलका नाम है 'विभुप्रमित'; अर्थात् अत्यन्त अधिक अहंकारस्वरूप। जो 'अहं' या 'मैं' इस प्रकारके सामान्यरूपमें प्रमित अथवा प्रमाणद्वारा प्रतीत होता है, वह निरवच्छिन्न अत्यन्त अधिक अहंकार भाग ही उसका सामान्यतः सभास्थल है। सभा-स्थलका नाम है—'विभुप्रमित' और उसकी 'आसन्दी' अर्थात् सभाकी मध्यवेदीका नाम है—'विचक्षणा'। बुद्धितत्त्व या महत्तत्त्व आदि शब्दके द्वारा उस सभाकी मध्यवेदीका परिचय मिलता है। विचक्षणाका अर्थ है—'कुशला'। उस मध्य-वेदीमें जो पर्यङ्क है, वह 'अमितौजा' अर्थात् प्राण-संवादादिसे प्रसिद्ध और विशाल हो गया है। जिसमें अमित या अपरिमित ओजः, बल है, वह प्राण ही है। वह प्राण ही उसका मञ्चक है। हिरण्यगर्भके आसनरूपमें प्राण पर्यङ्करूप है। उनकी प्रिया 'मानसी' है। वह मनकी कारणभूता प्रकृति और मनोगत आह्लादकारिणी भार्या है। उनकी मानसी भार्याके अलंकार आदि भी मानसी हैं, मनोगत आह्लादकारी हैं। उनकी प्रतिच्छाया चाक्षुषी है अर्थात् चक्षुकी प्रकृतिके स्वरूप तैजसी या तेजोमयी है। जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज—इन चार प्रकारके भूतोंको 'जगत्' कहते हैं। यह जगत् जिनके पुष्प एवं उत्तरीय तथा अधरीय वसन हैं; ये भूत सारे लोक-संस्थानके सहित जिनके कुसुम हैं; जिस प्रकार कुसुम कलिकावस्थासे प्रस्फुटित होकर जनसाधारणको सुगन्ध प्रदान करते हैं, उसी प्रकार भूतवर्ग भी बाल्यावस्थासे क्रमशः यौवनादिको प्राप्त होकर जनसाधारणके मनको आनन्द प्रदान करते हैं; तथा कुसुमके समान ही समय आनेपर कलेवर छोड़ देते हैं। केवल पुष्प ही नहीं, चारों ओर जो तन्तुसंतानके द्वारा निष्पादित पट, आच्छादन तथा परिधानके साधन वसन हैं, वे उसके स्वरूप हैं। जिस प्रकार सब प्राणी सङ्कोच और विकासमें तत्पर हैं, दोनों वस्त्र भी उसी प्रकारके हैं। इसी कारण चतुर्विध भूत उनके पुष्प और वसनका कार्य करते हैं। इसी प्रकार 'अम्बा' और 'अम्बायवी' वहाँकी अप्सराएँ हैं। जगत्की जननी (अम्बा) श्रुतियाँ हैं तथा न्यूनाधिक भावरहित बुद्धियाँ अम्बायवी हैं। ये श्रुतियाँ और बुद्धियाँ वहाँकी अप्सरा या साधारण स्त्री हैं। वहाँकी साधारण स्त्री श्रुतियाँ भी हैं और बुद्धियाँ भी हैं। पुर और पत्तनवासी लोगोंके भोगके लिये जलप्रवाहधारिणी नदियाँ अम्बया हैं। 'अम्ब' शब्दका अर्थ है—लोचन, अर्थात् ब्रह्म-

ज्ञान। उसको जिसके द्वारा प्राप्त किया जाय, उसे 'अम्बया' कहते हैं। अम्बया शब्दका अर्थ है—उपासना। सब नदियोंका प्रवाह है—उपासनाकी धारा।

श्रीमद्भागवत (३ । १५)में वर्णित वैकुण्ठ

"उस वैकुण्ठधाममें सभी लोग विष्णुरूप होकर रहते हैं और वह प्राप्त भी उन्हींको होता है, जो अन्य सब प्रकारकी कामनाएँ छोड़कर केवल भगवच्चरण-शरणकी प्राप्तिके लिये ही अपने धर्मद्वारा उनकी आराधना करते हैं। वहाँ वेदान्त-प्रतिपाद्य धर्ममूर्ति श्रीआदिनारायण हम अपने भक्तोंको सुख देनेके लिये शुद्धसत्त्वमय स्वरूप धारणकर हर समय विराजमान रहते हैं। उस लोकमें 'नैःश्रेयस' नामका एक वन है, जो मूर्तिमान् कैवल्य-सा ही जान पड़ता है। वह सब प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले वृक्षोंसे सुशोभित है, जो स्वयं हर समय छहों ऋतुओंकी शोभासे सम्पन्न रहते हैं।

"वहाँ विमानचारी गन्धर्वगण अपनी प्रियाओंके सहित अपने प्रभुकी पवित्र लीलाओंका गान करते रहते हैं, जो लोगोंकी सम्पूर्ण पापराशिको भस्म कर देनेवाली हैं। उस समय सरोवरोंमें खिली हुई मकरन्दपूर्ण वासन्तिक माधवी लताकी सुमधुर गन्ध उनके चित्तको अपनी ओर खींचना चाहती है, परंतु वे उसकी ओर ध्यान ही नहीं देते, वरं उस गन्धको उड़ाकर लानेवाले वायुको ही बुरा-भला कहते हैं। जिस समय भ्रमरराज ऊँचे स्वरसे गुंजार करते हुए मानो हरि-कथाका गान करते हैं, उस समय थोड़ी देरके लिये कबूतर, कोयल, सारस, चकवे, पपीहे, हंस, तोते, तीतर और मोरोंका कोलाहल बंद हो जाता है—मानो वे भी उस कीर्तनानन्दमें बेसुध हो जाते हैं। श्रीहरि तुलसीसे अपने श्रीविग्रहको सजाते हैं और तुलसीकी गन्धका ही अधिक आदर करते हैं—यह देखकर वहाँके मन्दार, कुन्द, कुरबक (तिलकवृक्ष), उत्पल (रात्रिमें खिलनेवाले कमल), चम्पक, अर्ण, पुन्नाग, नागकेसर, बकुल (मौलसिरी), अम्बुज (दिनमें खिलनेवाले कमल) और पारिजात आदि पुष्प सुगन्धयुक्त होनेपर भी तुलसीका ही तप अधिक मानते हैं। वह लोक वैदूर्य, मरकतमणि (पन्ने) और सुवर्णके विमानोंसे भरा हुआ है। ये सब किसी कर्मफलसे नहीं, बल्कि एकमात्र श्रीहरिके पादपद्मोंकी वन्दना करनेसे ही प्राप्त होते हैं। उन विमानोंपर चढ़े हुए कृष्णप्राण भगवद्-भक्तोंके चित्तोंमें बड़े-बड़े नितम्बोंवाली सुमुखी सुन्दरियाँ भी अपनी मन्द मुसकान एवं मनोहर हास-परिहाससे काम-विकार नहीं उत्पन्न कर सकतीं।

"परम सौन्दर्यशालिनी लक्ष्मीजी, जिनकी कृपा प्राप्त करनेके लिये देवगण भी यत्नशील रहते हैं, श्रीहरिके भवनमें चञ्चलतारूप दोषको त्यागकर रहती हैं। जिस समय अपने चरण-कमलोंके नूपुरोंकी झनकार करती हुई वे अपना लीला-कमल घुमाती हैं, उस समय उस कनक-भवनकी स्फटिकमय दीवारोंमें उनका प्रतिबिम्ब पड़नेसे ऐसा जान पड़ता है मानो वे उन्हें बुहार रही हों। प्यारे देवताओ! जिस समय दासियोंको साथ लिये वे अपने क्रीडावनमें तुलसीदलद्वारा भगवान्‌का पूजन करती हैं, तब वहाँके निर्मल जलसे भरे हुए सरोवरोंमें, जिनमें मूँगेके घाट बने हुए हैं, अपना सुन्दर अलकावली और उन्नत नासिकासे सुशोभित मुखारविन्द देखकर 'यह भगवान्‌का चुम्बन किया हुआ है' यों जानकर उसे बड़ा सौभाग्यशाली समझती हैं।" (श्रीमद्भागवत ३ । १५ । १४–२२)।

राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। अच्छा, और सुनो।

"प्रकृति और परव्योमके बीच पवित्र विरजा नदी अवस्थित है, वह वेदाङ्गरूपी घर्मवारि (स्वेद-जल) के द्वारा प्रवाहित हो रही है। इस विरजाके उस पार त्रिपादविभूतिशाली सनातन, अमृत, शाश्वत, नित्य और अनन्त, अर्थात् परिमाणरहित परम व्योम नामक स्थान है। राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। वह शुद्ध सत्त्वमय अलौकिक, अविनाशी एवं ब्रह्माका आश्रय है। दूसरा जो धाम अनेक कोटि सूर्य और अग्निके समान तेजोमय है, वहाँ सर्ववेदस्वरूप, शुभ्रवर्ण, सब प्रकारके प्रलयसे वर्जित, संख्या-शून्य, अजर, सत्य, जाग्रत्-स्वप्नादि तीनों अवस्थाओंसे रहित, स्वर्णमय, मोक्षप्रद, ब्रह्मानन्द सुखस्वरूप तथा जिसके समान या अधिक कुछ नहीं है; जो आदि-अन्तशून्य, मङ्गल-स्वरूप, अतिशय अद्भुत, रमणीय, नित्य और आनन्द-समुद्र इत्यादि गुणयुक्त है, वही विष्णुका परमपद है। राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।" (संक्षेप भागवतामृतमें उद्धृत पद्मपुराण, उत्तरखण्ड)

राम-राम सीताराम। वैकुण्ठमें सभी शुद्धसत्त्वमय पार्षदोंके उज्ज्वल श्यामवर्ण, पद्मलोचन, पीताम्बर-परिधान, अति कमनीय सुकुमार आकृति है। सभी चतुर्भुज हैं, सबके वक्षःस्थलपर अतिशय प्रभाशाली मणियुक्त पदक देदीप्यमान है तथा सभी अति तेजस्वी हैं। उनकी कान्ति प्रवाल, वैदूर्य

और मृणालके समान है तथा वे सब दीप्तियुक्त कुण्डल, किरीट और माला धारण करके रहते हैं। राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

हलधर—सुन्दर, सुन्दर! कहिये, कहिये—वैकुण्ठके विषयमें और भी कुछ कहिये।

पागल—राम राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। वैकुण्ठमें सुनन्द, नन्द, प्रबल, अर्हन आदि प्रधान-प्रधान पार्षदोंके द्वारा श्रीहरि सेवित होते हैं। राम-राम सीताराम। वहाँ चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र, जय, विजय, धाता, विधाता, कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक, वामन, शङ्कुकर्ण, सर्वभद्र, सुमुख आदि द्वारपालगण बड़ी सावधानीसे पहरा देते हैं। राम-राम सीताराम। यहाँ सम्पत्तिरूपिणी श्री मूर्तिमती होकर विविध वैभवोंके द्वारा श्रीभगवान्‌के चरणारविन्द-युगलकी सेवा करती हैं और निरन्तर अपने प्रियतम श्रीहरिका गुणगान करती रहती हैं। राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

हलधर—बोलिये—वैकुण्ठकी बात और सुनाइये!

पागल—राम-राम सीताराम। मोक्ष, परमपद, दिव्य, अमृत, विष्णु, मन्दिर, अक्षर, परमधाम, वैकुण्ठ, शाश्वतपद, नित्य, परम व्योम, सर्वोत्कृष्ट और सनातन—ये सब शब्द परम व्योमके पर्यायवाची हैं। राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति और परम व्योमके बीच विरजा नदी विद्यमान है। यह विरजा वेदाङ्गसे उत्पन्न है, स्वेदजलके द्वारा प्रवाहित है। उसके दूसरे पार महाकाश है। उस महाकाशमें सनातनी त्रिपादविभूति वर्त्तमान है। वह त्रिपादविभूति अक्षर ब्रह्मपद है। वह अमृत, शाश्वत, नित्य, अनन्त, परम शुद्ध सत्त्वमय और दिव्य है। उसकी अव्यय कान्ति अनन्त-कोटि सूर्य और अग्निके समान है।

भगवत्पादसेवक महात्मा महाभागवतगण ब्रह्मसुख प्रदान करनेवाले भगवान् श्रीविष्णुके उस परम धाममें गमन करते हैं। उस परम धाम—वैकुण्ठमें नाना प्रकारके रत्नोंसे जटित प्राकार और सौध हैं और उसके भीतर एक दिव्य नगरी है। वह नगरी मणि और काञ्चनके नाना चित्रोंसे समृद्ध तथा नाना प्रकारके तोरणोंसे समन्वित है। उस पुरीके बीचमें श्रीहरिका मनोहर मण्डप विद्यमान है। वह मण्डप मणिमय प्राकारसे युक्त रत्न-तोरणसे सुशोभित है। नाना प्रकारके विमान तथा उत्तम गृह-प्रासादद्वारा समलंकृत है। बड़े ऊँचे मण्डपके समान यह राजस्थान है। यह शुभ स्थान रत्नमय, सहस्रों मणि-माणिक्यमय स्तम्भोंसे युक्त है। दिव्य मुक्तासमाकीर्ण है तथा सामगानसे परम रमणीय है। उसके बीचमें सर्ववेदमय सुरम्य शुभ्र सिंहासन विद्यमान है। वह सिंहासन वेदमयात्मक धर्मादि देवगण, धर्म, ज्ञान, महैश्वर्य, वैराग्य, पाद, विग्रह, ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन सबके द्वारा यथाक्रम नित्य परिवृत है। शक्ति, चिच्छक्ति, सदाशिवा तथा धर्मादि देवगणोंकी शक्तियाँ उसकी आधार-शक्ति हैं। उसके भीतर वह्नि, चन्द्र और सूर्य वास करते हैं तथा कूर्म, नागराज, वैनतेय, वेदाधिप मन्त्रोंके छन्द—ये सब उस सिंहासनके पीठत्वको प्राप्त हो रहे हैं। यह पीठ 'सर्वाक्षरमय योगपीठ'के नामसे अभिहित है। सिंहासनके बीचमें नवोदित आदित्यकी प्रभाके समान अष्टदल पद्म विराजमान है। उसमें सावित्री नामकी कर्णिकामें ईश्वरीके साथ परमपुरुष देवेश भगवान् श्रीहरि समासीन हैं। वे इन्दीवरदलके समान श्यामवर्ण और कोटि-सूर्यके समान दीप्तिमन्त हैं। उनकी युवा, कुमार स्निग्ध दिव्य कोमल काया है। उनके प्रस्फुटित रक्तपद्मप्रभ कमलके समान कोमल चरण-युगल हैं। राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

—(सुगम साधन-पन्था)

हलधर—सुन्दर! सुन्दर! कैसे सुन्दर भगवान् श्रीहरि हैं। कहिये, कहिये पागल बाबा और भी कहिये।

पागल—राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। श्रीभगवान् रामानुजाचार्य कहते हैं* कि "निरन्तर आध्यात्मिक जीवनमें उन्नति प्राप्त करनेके लिये बार-बार इस प्रकार चिन्तन करे—यह जो चौदह भुवनोंमें विभाजित ब्रह्माण्ड है, उसके जो उत्तरोत्तर दसगुने सात आवरण हैं तथा जो समस्त कार्य-कारण-समुदाय है, उन सबसे परे दिव्य शोभासे सम्पन्न अलौकिक वैकुण्ठधाम विराजमान है। उसका दूसरा नाम है—'परम व्योम'। ब्रह्मा आदि देवताओंके मन-वाणी भी वहाँतक नहीं पहुँच सकते। वह नित्यधाम वैकुण्ठ असंख्य दिव्य महात्मा पुरुषोंसे भरा हुआ है। वे महात्मा नित्य-सिद्ध हैं। भगवान्‌की अनुकूलता ही उनका एकमात्र भोग (सुख-साधन) है। उनका स्वभाव और ऐश्वर्य कैसा है, इसका वर्णन करना तो दूर रहा—सनकादि महात्मा, ब्रह्मा और शिव आदि भी इसको मनसे सोचतक नहीं

* 'श्रीवैकुण्ठगद्यम्'का अंश। 'कल्याण' 'संतवाणी-अंक' द्वितीय खण्डसे उद्धृत।

सकते। उन महात्माओंका ऐश्वर्य इतना ही है, उनकी इतनी ही मात्रा है अथवा उसका ऐसा ही स्वभाव है— इत्यादि बातोंका परिच्छेद (निर्धारण या निश्चय) करना भी वहाँके लिये नितान्त अनुचित है। वह दिव्य धाम एक लाख दिव्य आवरणोंसे आवृत है। दिव्य कल्पवृक्ष उसकी शोभा बढ़ाते रहते हैं। वह वैकुण्ठलोक शतसहस्र कोटि दिव्य उद्यानोंसे घिरा हुआ है। उसका दीर्घ विस्तार नापा नहीं जा सकता। वहाँके निवासस्थान भी अलौकिक हैं। वहाँ एक दिव्य सभाभवन है, जो विचित्र एवं दिव्य रत्नोंसे निर्मित है। उसमें शतसहस्रकोटि दिव्य रत्नमय खंभे लगे हैं, जो उस भवनकी शोभा बढ़ाते रहते हैं। उसका फर्श नाना प्रकारके दिव्य रत्नोंसे निर्मित होनेके कारण अपनी विचित्र छटा दिखाता है। वह सभा-भवन दिव्य अलंकारोंसे सजा हुआ है। कितने ही दिव्य उपवन सब ओरसे उस सभा-भवनकी श्रीवृद्धि करते हैं। उनमें भाँति-भाँतिकी सुगन्धसे भरे हुए रंग-बिरंगे दिव्य पुष्प सुशोभित हैं, जिनमेंसे कुछ नीचे गिरे रहते हैं, कुछ वृक्षोंसे झड़ते रहते हैं और कुछ उन वृक्षोंकी डालियोंपर ही खिले रहते हैं। घनी श्रेणियोंमें लगे हुए पारिजात आदि कल्पवृक्षोंसे शोभायमान लक्षकोटि दिव्योद्यान भी उक्त सभा-भवनको पृथक्-पृथक् घेरे हुए हैं। उन उद्यानोंके भीतर पुष्पों तथा रत्न आदिसे निर्मित लाखों दिव्य लीलामण्डप उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं। वे सर्वदा उपभोगमें आते रहनेपर भी अपूर्वकी भाँति वैकुण्ठवासियोंके लिये अत्यन्त आश्चर्यजनक जान पड़ते हैं। लाखों क्रीडापर्वत भी उक्त उद्यानोंको अलंकृत कर रहे हैं। उनमेंसे कुछ उद्यान तो केवल भगवान् नारायणकी दिव्य लीलाओंके असाधारण स्थल हैं और कुछ पद्मभवनमें निवास करनेवाली भगवती लक्ष्मीकी दिव्य लीलाओंके विशेष रङ्गस्थल हैं। कुछ उद्यान शुक, सारिका, मयूर और कोकिल आदि दिव्य विहंगमोंके कोमल कलरवसे व्याप्त रहते हैं। उक्त सभा-भवनको सब ओरसे घेरकर दिव्य सौगन्धिक कमल-पुष्पोंसे भरी लाखों बावलियाँ शोभा पा रही हैं। दिव्य राजहंसोंकी श्रेणियाँ उन बावलियोंकी श्रीवृद्धि करती हैं। उनमें उतरनेके लिये मणि, मुक्ता और मूँगोंकी सीढ़ियाँ बनी हैं। दिव्य निर्मल अमृतरस ही उनका जल है। अत्यन्त रमणीय दिव्य विहंगप्रवर, जिनके मधुर कलरव बड़े ही मनोहर हैं, उन बावलियोंमें भरे रहते हैं। उनके भीतर बने हुए मोतियोंके दिव्य क्रीडास्थान शोभा देते हैं। सभाभवनके भीतर भी कितने ही क्रीड़ाप्रदेश उसकी शोभा बढ़ाते हैं, जो सर्वाधिक आनन्दैकरस-स्वभाव एवं अनन्त होनेके कारण अपने भीतर प्रवेश करनेवाले वैकुण्ठवासियोंको आनन्दोन्मादसे उन्मत्त किये देते हैं। उस भवनके विभिन्न भागोंमें दिव्य पुष्पशय्याएँ बिछी रहती हैं।

"नाना प्रकारके पुष्पोंका मधु पीकर उन्मत्त हुई भ्रमरावलियाँ अपने गाये हुए दिव्य संगीतकी मधुर ध्वनिसे उक्त सभामण्डपको मुखरित किये रहती हैं। चन्दन, अगुरु, कर्पूर और दिव्य पुष्पोंकी सुगन्धमें डूबी हुई मन्द-मन्द वायु प्रवाहित होकर उक्त सभाके सदस्योंकी सेवा करती रहती है।

"उस सभामण्डपके मध्यभागमें महान् दिव्य योग-शय्या सुशोभित है, जो दिव्य पुष्पराशिके संचयसे विचित्र सुषमा धारण किये हुए है। उसपर भगवान् अनन्त (शेषनाग) का दिव्य शरीर शोभा पाता है। उसपर अनुरूप शील, रूप और गुण विलास आदिसे सुशोभित भगवती श्रीदेवीके साथ भगवान् श्रीहरि विराजमान रहते हैं। वे श्रीदेवी अनुपम शोभाशाली वैकुण्ठके ऐश्वर्य आदिसे सम्पन्न सम्पूर्ण दिव्य लोकको अपनी अनुपम कान्तिसे आप्यायित (परिपुष्ट) करती रहती है। शेष और गरुड आदि समस्त पार्षदोंको विभिन्न अवस्थाओंमें भगवान्‌की आवश्यक सेवाके लिये आदेश देती रहती है।

"भगवान्‌के दोनों नेत्र तुरतके खिले हुए कमलोंकी शोभाको तिरस्कृत करते हैं। उनके श्रीअङ्गोंका सुन्दर रंग निर्मल श्याम मेघसे भी अधिक मनोहर है। श्रीविग्रहपर पीले रंगका प्रकाशमान वस्त्र सुशोभित रहता है। भगवान् अपनी अत्यन्त निर्मल और अतिशय शीतल, कोमल, स्वच्छ माणिक्यकी-सी प्रभासे सम्पूर्ण जगत्‌को प्रभासित करते हैं। वे अचिन्त्य, दिव्य, अद्भुत, नित्य यौवन, स्वभाव और लावण्यमय अमृतके समुद्र हैं। अत्यन्त सुकुमारताके कारण उनका ललाट कुछ पसीनेकी बूँदोंसे विभूषित दिखायी देता है और वहाँतक फैली हुई उनकी दिव्य अलकें अपूर्व शोभा बढ़ाती हैं। भगवान्‌के मनोहर नेत्र विकसित कोमल कमलके सदृश मनोहर हैं। उनकी भ्रूलताकी भङ्गिमासे अद्भुत विभ्रम-विलासकी सृष्टि होती रहती है। उनके अरुण अधरोंपर उज्ज्वल हासकी छटा बिखरी रहती है। उनकी मन्द मुसकान अत्यन्त पवित्र है। उनके कपोल कोमल और नासिका ऊँची है। ऊँचे और मांसल कंधोंपर लटकी हुई

कटौं और कुण्डलोंके कारण भगवान्‌की शङ्ख-सदृश ग्रीवा बड़ी सुन्दर दिखायी देती है। प्रियतमा लक्ष्मीके कानोंकी शोभा बढ़ानेवाले कमल, कुण्डल और शिथिल केशपाशोंके वेणीबन्धनके विमर्दनको सूचित करनेवाली घुटनोंतक लंबी चार भुजाओंसे भगवान्‌के श्रीविग्रहकी अद्भुत शोभा है। उनकी हथेलियाँ अत्यन्त कोमल दिव्य रेखाओंसे अलंकृत और कुछ-कुछ लाल रंगकी हैं। अंगुलियोंमें दिव्य मुद्रिका शोभा देती है। अत्यन्त कोमल दिव्य नखावलीसे प्रकाशित लाल-लाल अंगुलियाँ उनके करकमलोंको अलंकृत करती हैं। उनके दोनों चरण तुरंतके खिले हुए कमलोंके सौन्दर्यको छीने लेते हैं।

''अत्यन्त मनोहर किरीट, मुकुट, चूडामणि, मकराकृत कुण्डल, कण्ठहार, केयूर, कंगन, श्रीवत्स-चिह्न, कौस्तुभ-मणि, मुक्ताहार, कटिबन्ध, पीताम्बर, काञ्चीसूत्र और नूपुर आदि अत्यन्त सुखद स्पर्शवाले दिव्य गन्धयुक्त आभूषण भगवान्‌के श्रीअङ्गोंको विभूषित करते हैं। शोभाशालिनी वैजयन्ती वनमाला उनकी शोभा बढ़ाती है। शङ्ख, चक्र, गदा, खड्ग और शार्ङ्ग धनुष आदि दिव्य आयुध उनकी सेवा करते हैं।

''अपने संकल्पमात्रसे सम्पन्न होनेवाले संसारकी सृष्टि, पालन और संहार आदिके लिये भगवान्‌ने अपना समस्त ऐश्वर्य श्रीमान विष्वक्सेनको अर्पित कर रक्खा है। जिनमें स्वभावसे ही समस्त सांसारिक भावोंका अभाव है, जो भगवान्‌की परिचर्या करनेके सर्वथा योग्य हैं तथा भगवानकी सेवा ही जिनका एकमात्र भोग है, वे गरुड आदि नित्य-सिद्ध असंख्य पार्षद यथावसर श्रीभगवान्‌की सेवामें संलग्न रहते हैं। उनके द्वारा होनेवाले आत्मानन्दके अनुभवसे ही पर, परार्द्ध आदि कालका अनुसंधान होता रहता है।

''वे भगवान् अपनी दिव्य निर्मल और कोमल दृष्टिसे सम्पूर्ण विश्वको आह्लादित करते रहते हैं। भगवान् दिव्यलीला-सम्बन्धी अमृतमय वार्तालापसे सब लोगोंके हृदयको आनन्दसे परिपूर्ण करते रहते हैं। उस दिव्य लीलालापमें अत्यन्त मनोहर दिव्य भाव छिपा रहता है। उनके किंचित् खुले हुए मुखारविन्दके भीतरसे निकला हुआ वह अमृतमय वचन उनके दिव्य मुखकमलकी शोभा बढ़ाता है। उस वार्तालापको दिव्य गाम्भीर्य, औदार्य, सौन्दर्य और माधुर्य आदि अनन्त गुणसमुदाय विभूषित करते हैं। राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

''इस प्रकार ध्यानयोगके द्वारा भगवान् नारायणका दर्शन करके इस यथार्थ सम्बन्धका मन-ही-मन चिन्तन करे कि भगवान् मेरे नित्य स्वामी हैं और मैं उनका नित्य दास हूँ।

''मैं कब अपने कुलके स्वामी, देवता और सर्वस्व भगवान् नारायणका, जो मेरे भोग्य, मेरे माता, मेरे पिता और मेरे सब कुछ हैं, इन नेत्रोंद्वारा दर्शन करूँगा। मैं कब भगवान्‌के युगल चरणारविन्दोंको अपने मस्तकपर धारण करूँगा!

'कब वह समय आयेगा जब कि मैं भगवान्‌के दोनों चरणारविन्दोंकी सेवाकी आशासे अन्य सभी भोगोंकी आशा-अभिलाषा छोड़कर समस्त सांसारिक भावनाओंसे दूर हो भगवान्‌के युगल चरणारविन्दोंमें प्रवेश कर जाऊँगा। कब ऐसा सुयोग प्राप्त होगा जब मैं भगवान्‌के युगल चरणकमलोंकी सेवाके योग्य होकर उन चरणोंकी आराधनामें ही लगा रहूँगा। कब भगवान् नारायण अपनी अत्यन्त शीतल दृष्टिसे मेरी ओर देखकर स्नेहयुक्त, गम्भीर एवं मधुर वाणीद्वारा मुझे अपनी सेवामें लगनेका आदेश देंगे!

''इस प्रकार भगवान्‌की परिचर्याकी आशा-अभिलाषाको बढ़ाते हुए उसी आशासे, जो उन्हींके कृपा-प्रसादसे निरन्तर बढ़ रही हो, भावनाद्वारा भगवान्‌के निकट पहुँचकर दूरसे ही भगवती लक्ष्मीके साथ शेषशय्यापर बैठे हुए और गरुड आदि पार्षदोंकी सेवा स्वीकार करते हुए भगवान्‌को 'समस्त परिवारसहित भगवान् श्रीनारायणको नमस्कार है'—यों कहकर साष्टाङ्ग प्रणाम करे। फिर बार-बार उठने और प्रणाम करनेके पश्चात् अत्यन्त भय और विनयसे नतमस्तक होकर खड़ा रहे।

''जब भगवान्‌के पार्षदगणोंके नायक द्वारपाल कृपा और स्नेहपूर्ण दृष्टिसे साधककी ओर देखें तो उन्हें भी विधिपूर्वक प्रणाम करे। फिर उन सबकी आज्ञा लेकर श्रीमूलमन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) का जप करते हुए भगवान्‌के पास पहुँचे और यह याचना करे कि 'प्रभो! मुझे अपनी अनन्य नित्य सेवाके लिये स्वीकार कीजिये।' तदनन्तर पुनः प्रणाम करके भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर दे।

''इसके बाद भगवान् स्वयं ही जब अपनेको जीवनदान देनेवाली मर्यादा और शीलसे युक्त अत्यन्त प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखकर सब देश, सब काल और सब अवस्थाओंमें उचित

दासभावके लिये साधकको सदाके लिये स्वीकार कर लें और सेवाके लिये आज्ञा दे दें, तब वह अत्यन्त भय और विनयसे विनम्र होकर उनके कार्यमें संलग्न रहकर हाथ जोड़े हुए सदा भगवान्‌की उपासना करता रहे।

"तदनन्तर भावविशेषका अनुभव होनेपर सर्वाधिक प्रीति प्राप्त होती है, जिससे साधक दूसरा कुछ भी करने, देखने या चिन्तन करनेमें असमर्थ हो जाता है। ऐसी दशामें वह पुनः दासभावकी ही याचना करते हुए निरन्तर अविच्छिन्न प्रवाहरूपसे भगवान्‌की ही ओर देखता रहे।"

राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

हलधर—पागल बाबा! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आपने मुझको एक बार वैकुण्ठमें श्रीभगवान्‌के पास लाकर उपस्थित कर दिया। आपकी कृपारूपी ऋणका शोधन करनेके लिये मेरे पास कुछ नहीं है। मैं आपको पुनः प्रणाम करता हूँ। बतलाइये, पागल बाबा, मैं किस प्रकार वैकुण्ठनाथके चरणोंमें आश्रय पा सकूँगा?

पागल—(बदलेमें प्रणाम करते हुए) राम-राम सीताराम-जय-जय राम सीताराम। इस युगमें भगवत्प्राप्तिकी कोई चिन्ता नहीं है। अति सहज ही श्रीभगवान् प्राप्त हो सकते हैं। उठते-बैठते, सोते-जागते नाम-स्मरण करो। नियमित रूपसे रोज चार घंटा नाम-कीर्तन करो। राम-राम सीताराम। जय जय राम सीताराम। कुछ दिन नाम-जप करनेपर भगवान् स्थिर न रह सकेंगे; नादरूपसे तुमको आश्रयमें ले लेंगे। रात-दिन अनेक राग-रागिनी, अनेक गीत सुनाते हुए वे तुमको प्रकाश (ज्योति) के राज्यमें ले जायँगे। असंख्य प्रकाश, अनन्त आकाशके बीचसे तुमको हृदयसे लगाकर वैकुण्ठमें ले जायँगे। राम-राम सीता-राम। जय-जय राम सीताराम। तुम नित्य तीनों संध्याओंमें अर्चि आदि मार्गका चिन्तन करो। पश्चात् वैकुण्ठमें नारायणका चिन्तन करो। राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम।

हलधर—अर्चि आदि मार्ग किस प्रकारका है?

पागल—राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। हृदयमें मृणाल-तन्तुके समान अति सूक्ष्म सुषुम्णा नाड़ी है। उसी नाड़ीके सहारे तुम बाहर निकलकर पहले अर्चि (तेजःज्योति) को प्राप्त होओगे। वहाँ देवगणके द्वारा पूजित होनेके बाद दिवसाभिमानी देवता मिलेंगे। वे पूजा करके शुक्लपक्षाभिमानी देवताके पास पहुँचा देंगे और वे उत्तरायण अभिमानी देवताके पास पहुँचायेंगे। फिर वे संवत्सर अभिमानी देवताके पास पहुँचायेंगे। वहाँसे सूर्यलोक, वहाँसे चन्द्रलोक, पश्चात् विद्युल्लोकमें पहुँचकर उस लोकवासी देवताके द्वारा पूजित होकर विरजा नदीमें स्नान करके तुम आगे जाओगे। तब गरुड आदि पार्षद-गण तथा दिव्य सूरीगण आकर तुमको श्रीभगवान्‌के पास ले जायँगे। राम-राम सीताराम। जय-जय राम सीताराम। जो तीनों संध्याओंमें इस अर्चिमार्गका चिन्तन करते हैं, उनको और कुछ जानना शेष नहीं रहता। वे श्रीनारायणकी कृपासे देहान्त होनेपर वैकुण्ठमें उनका दासत्व प्राप्त करते हैं; फिर उनको मृत्युलोकमें नहीं आना पड़ता। राम-राम सीता-राम। जय जय राम सीताराम। यदि वैकुण्ठ जाना चाहते हो, परमपदरूप श्रीभगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हो तो मेरे साथ ताली बजाकर नाचते हुए गाओ—

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम।

दोनों नाच-नाचकर नाम-कीर्तन करने लगे!

वैकुण्ठ प्राप्त करो

दुःखालय अनित्य दारुण इस मर्त्यलोकके सब सुख भोग।
लगते मधुर, भरे विष भारी, नरक-दुःख-परिणामी रोग॥
मनसे तुरत निकालो इनको, भजो हृदयसे श्रीभगवान्।
विश्व-चराचरमें नित देखो मधुर उन्हींका रूप महान्॥
सेवारूप करो केवल तन-मनसे सब उनके ही काम।
प्राप्त करो वैकुण्ठ परम दुर्लभ हरिका मंगलमय धाम॥

मृत्युके समय भगवन्नाम और उसका फल

(लेखक—महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी भजनानन्दजी महाराज)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(गीता २। ४०)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है। बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है। (भय सबसे बड़ा जन्म-मृत्युका)।' भगवान् शंकर माता पार्वतीसे कहते हैं—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

'हे पार्वती! जगत्पिता भगवान्के स्वभावको जो जान जायगा, उसको भजनके सिवा और कुछ अच्छा नहीं लगेगा। तो फिर यहाँ निश्चय होता है कि यह देवदुर्लभ मनुष्य-शरीर भगवान्का भजन करनेके ही लिये मिला है; क्योंकि कहा है—

देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥

भगवान्की प्राप्ति भजन करनेसे जितनी सुगमतासे प्राप्त होती है, उतनी दूसरे साधनोंसे नहीं। भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मेरेमें अनन्य चित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मेरेको स्मरण करता है, उस निरन्तर मेरेमें युक्त हुए योगीके (लिये) मैं सुलभ हूँ।'

यह जो 'सुलभ' शब्द है, श्रीमद्भगवद्गीतामें सात सौ श्लोकोंमें एक ही बार आया है। संसार बहुत लेता है, थोड़ा देता है। भगवान् और संत थोड़ा लेते हैं, और बहुत देते हैं। संसारमें कोई भी ऐसा धनी नहीं है, जो बहुत रकम देकर थोड़ेमें ही उद्धार कर दे। वह बहुत बड़ी रकम क्या है, सो नीचे लिखते हैं—

कहा कहूँ कहि जात हूँ कहा बजाऊँ ढोल।
स्वाँसा खाली जात है तीन लोकका मोल॥

मनुष्य पूरे जीवनमें यानी सौ वर्षतक जीवित रहे और सौ वर्षके जीवनमें एक करोड़ रुपया पैदा कर ले, जब मृत्युका समय आवे तब वह प्राणी एक करोड़ रुपयोंसे चाहे कि इन रुपयोंको दे करके मैं एक मिनट जीवित बना रहूँ तो जीवित नहीं रह सकता। मृत्यु होनेपर जो एक करोड़ रुपया जीवनमें पैदा किया है, उसमें एक कौड़ी भी साथ नहीं जाती—**सम्मीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति'**। लेकिन भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें मेरेको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है वह मेरे (साक्षात्) स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें (कुछ भी) संशय नहीं है।'

ऐसा किसीको हुआ है कि जिसने पूरा जीवन आहार, निद्रा, भय तथा मैथुनमें ही दिया हो और अन्तिम समयमें भगवान्का स्मरण करते हुए शरीरका त्याग करके, भगवत्-प्राप्ति की हो या भगवद्धामको प्राप्त किया हो? ऐसे अनेक भक्त हो गये हैं। नीचे एक भक्तका नाम देते हैं—

अजामिल थोड़ेसे कुसङ्गको पाकर महान् पापी हो गया। जब उसका अन्तिम समय आया तब उसने अपने पुत्र 'नारायण'का नाम लिया। नारायण नाम लेनेसे ही उसको यमपुरी नहीं जाना पड़ा। नारायण नामकी महिमा ही इतनी है। एक हिंदीके कविने लिखा है—

जबहिं नाम हिरदै धर्‍यो, भयो पाप को नास।
जैसे चिनगी आग की पड़ी पुराने घास॥

राजा परीक्षित्ने पहला प्रश्न शुकदेवजीसे किया—'हे गुरुदेव—

अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम्।
पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा॥
(श्रीमद्भा० १। १९। ३७)

'आप योगियोंके परम गुरु हैं, इसलिये मैं आपसे परम-सिद्धिके स्वरूप और साधनके सम्बन्धमें प्रश्न कर रहा हूँ। जो पुरुष सर्वथा मरणासन्न है उसको क्या करना चाहिये।'

उसका उत्तर देते हुए शुकदेव मुनि कहते हैं—

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥

(श्रीमद्भा० २। १। ६)

'मनुष्य-जन्मका यही इतना ही लाभ है—चाहे जैसे हो ज्ञानसे, भक्तिसे अथवा अपने धर्मकी निष्ठासे जीवनको ऐसा बना लिया जाय कि जिससे मृत्युके समय भगवान्‌की स्मृति अवश्य ही बनी रहे।'

यही बात अजामिलकी थी। गोस्वामी तुलसीदासने जीवनका फल बताते हुए कवितावलीमें लिखा है—

सिय-रामसरूप अगाध अनूप बिलोचन मीनन को जल है।
श्रुति रामकथा, मुख राम को नाम, हिएँ पुनि रामहि को थल है॥
मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति रामसों, रामहि को बल है।
सबकी न कहै 'तुलसी' के मतें इतनो जग जीवन को फल है॥

(कवितावली उत्तर० ३७)

यदि इतना जीवनका फल प्राप्त नहीं किया तो महापुरुष लोग बड़ी निन्दा और बुराई करते हैं।

जो पै रहनि राम सों नाहीं।
तौ नर खर कूकर सूकर सम बृथा जियत जग माहीं॥

(विनय० १७५)

'मनुष्य-शरीर धारण करके भी वे शूकर, कूकर तथा गदहेके समान व्यर्थ जीवन गँवाते हैं, जिन्होंने भगवान्‌से प्रेम नहीं किया है।' भगवान्‌से जिन्होंने अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ा, उनके लिये एक हिंदीके कविने लिखा है—

जननी जन जानकी जीवन की,
जग में जननी सो भई जननी।
मति मंजुल साधु सराहत सो,
सिय नाह की नेह सनी सो गनी॥
धन धन्य धनी हरि नाम धनी,
जग और धनी सो धनी न धनी।
जिनकी न बनी रघुनंदन सों,
तिनकी न बनी न बनी न बनी॥

जिन्होंने अपना सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ लिया है, उनका टूटा नहीं और जिन्होंने संसारसे सम्बन्ध जोड़ा, उनका कभी रहा नहीं। एक और हिंदी-कवि लिखता है—

अजामिल अधममें थी क्या बुराई,
मगर आपने उसकी बिगड़ी बनाई।
घड़ी मौतकी सिर पै जब उसके आई,
तो बेटे नरायणकी थी रट लगाई॥
तुरत खुल गये उसके बैकुण्ठ द्वारे,
हरे कृष्ण गोविन्द मोहन मुरारे।
यही नाम हो हरदम मुखमें हमारे॥

कितना कोई भी पापी क्यों न हो, भगवान्‌के नामसे सब पाप भस्म हो जाते हैं। यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि।
यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः॥

(श्रीमद्भा० ६। २। ७)

'हे यमदूतो! इसने कोटि-कोटि जन्मोंकी पाप-राशिका पूरा-पूरा प्रायश्चित्त कर लिया है; क्योंकि इसने विवश होकर ही सही, भगवान्‌के परम कल्याणमय (मोक्षप्रद) नामका उच्चारण तो किया है।'

एक बात और है। जिन्होंने भगवन्नाम नहीं लिया है और बड़ा रूप, बड़ा कुल, बड़ी विद्या, बड़ी उम्र तथा बड़ा ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया, तो उन्होंने कुछ भी नहीं किया। लिखा है—

काम से रूप, प्रताप दिनेस-से,
सोम-से सील, गनेस-से माने।
हरिचंद्र-से साँचे, बड़े बिधि-से,
मघवा-से महीप, बिषै सुख साने॥
सुक-से मुनि, सारद से बकता,
चिर जीवन लोमस ते अधिकाने।
ऐसे भए तो कहा तुलसी,
जो पै राजिवलोचन राम न जाने॥

(कवितावली उत्तर० ४३)

अन्य साधनोंके बजाय भगवन्नाम-साधन सबसे उत्तम है और हर वर्ण, हर आश्रमको इसका अधिकार है।

भगवन्नाममें एक विशेषता और भी है कि यदि कदाचित् वात, पित्त तथा कफके कारण साधक अन्तमें भगवान्‌का नाम नहीं ले सके तो भगवान् वाराहपुराणमें कहते हैं—'उस भक्तके बदले मैं नाम लूँगा; नाम ही नहीं लूँगा, मैं उस नाम लेने-वालेको परमगति दे दूँगा।'

यदि वातादिदोषेण मद्भक्तो मां न संस्मरेत् ।
अहं स्मरामि सततं नयामि परमां गतिम् ॥

इसका भाव ऊपर लिख चुके हैं। आजकलके कुछ लोग यह कहेंगे, 'यह कैसे हो सकता है कि नाम लेनेवाला वात, पित्त, कफके कारण नाम न ले तो भगवान् उसके हितके लिये नाम लेंगे।' उसका उदाहरण नीचे लिखकर लेखको विश्राम देते हैं।

जिस प्रकारसे एक सज्जन भोजन करनेके लिये अपनी धर्मपत्नीसे भोजनकी थाली मँगाता है और भोजन करनेको तैयार होता है। इतनेमें उस पिताका छोटा-सा लड़का, जो कि अभी डेढ़-दो वर्षका ही है, जिसके मुँहसे शुद्ध शब्द भी नहीं निकलते हैं, वह पिताकी थालीके पास जाता है और यह कहता है कि 'पिताजी हमको अट्टी (रोटी) देओ।' ऐसा कई बार कहता है। इतनेमें पिता अपनी थालीसे रोटीका टुकड़ा तोड़कर साग और दालमें मिलाकर लड़केके मुखमें देने लगता है, लड़का तबतक अट्टी-अट्टी कहता रहता है। जब रोटीका टुकड़ा मुँहमें जाता है तो लड़केका अट्टी कहना बंद हो जाता है और पिता फिर कहता है—'लेओ अट्टी'। इसी प्रकारसे वात, पित्त, कफके कारण भक्तको भगवान्‌का नाम विस्मृत हो जाय तो उतनी देरतक भगवान् भक्तके लिये नाम लेंगे। इसलिये हर समय भगवन्नामका अभ्यास करना चाहिये। एक भक्तने भगवान्से प्रार्थना की है—

रात दिवसका रोवना, पहर पलकका नाहिं।
रोवत रोवत मिल गया, अपने साहिब माँहि॥

मोक्ष-सोपान

(लेखक—अनन्तश्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म-
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ॥*
(श्रीमद्भा० ७। ९। ४६)

छप्पय

का सुख मैथुन माहिं खाजकी खुजली ऐसे।
सुख-सो पहिले लगे दुःख ही दुख पुनि जैसे॥
मौन, धरम, अध्यन, वेद, व्रत, श्रवन, समाधी।
जप, तप, व्याख्या, वास, मोक्ष दें संयम साधी॥
इन्द्रिय लोलुप जीविका, साधन इनहीं कूँ करें।
पाखंडी करि दम्भ तैं, करें जीविका कहुँ गिरें॥

वस्तु एक होनेपर भी पात्रभेदसे उसके फलमें भेद हो जाता है। सुनते हैं, सिंहनीका दूध सुवर्णपात्रमें ही टिकता है; अन्य पात्रोंमें रक्खा जाय तो वे पात्र फूट जाते हैं। गौका दूध चाँदी या मिट्टीके पात्रमें रक्खा जाय तो वह अमृतोपम गुणवाला होता है, उसी गौ-दुग्धको ताम्रपात्रमें रख दो तो वह विष बन जाता है। वर्षाका जल है। वह नदियोंमें, मीठे जलके कूपोंमें गिरता है, तो परम पेय बन जाता है। वही वर्षा-जल यदि समुद्रमें गिरता है, तो खारी अपेय बन जाता है। गङ्गाजल परम पवित्र है। उसे किसी पात्रमें भर लो और फिर उस पात्रसे उँड़ेलकर पीओ तो परम पवित्र पापनाशक होता है। उसीको मनुष्यके पेटमें भरकर निकालो तो अपेय नरकका द्वार हो जाता है। पवित्र वस्तु भी कुपात्रके संसर्गसे अन्य फल देनेवाली हो जाती है। यही बात मोक्षके साधनोंके सम्बन्धमें है। शास्त्रकारोंने मोक्षके दस साधन बताये हैं।

१—इन्द्रियजित् होकर वाणीका संयम कर ले, वाणीका प्रयोग कभी सांसारिक कार्योंमें न करे। वाणीका संयम होनेसे मनका संयम सहज हो जाता है। मौनसे बढ़कर संसारमें कोई तप नहीं।

२—ब्रह्मचर्यका विधिवत् पालन हो जानेपर भी मुक्ति मिल जाती है; क्योंकि मन, प्राण और वीर्य—इन तीनोंका परस्परमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एकका निरोध होनेपर

* मौन, ब्रह्मचर्यव्रत, शास्त्रश्रवण, तप, अध्ययन, स्वधर्म-पालन, शास्त्रोंकी व्याख्या, एकान्तवास, जप और समाधि—ये दस मोक्षके साधन हैं। इन्हीं दसोंको यदि अजितेन्द्रिय पुरुष करें तो ये उनकी जीविकाका साधन बन जाते हैं। किंतु जो केवल दम्भसे इनका आश्रय लेते हैं, उनकी कभी तो इनसे जीविका चल जाती है और कभी पोल खुलनेपर जीविका भी नहीं चलती।

तीनोंका निरोध हो जाता है। कामकी उत्पत्ति मनसे ही होती है, इसीलिये इसे 'मनोज' कहा है। मनको मथ देनेके ही कारण इसे 'मन्मथ' भी कहते हैं। मनका निरोध हो जानेपर प्राणोंका और ब्रह्मचर्यका भी निरोध हो जाता है। अथवा प्राणोंका ही प्राणायामादिसे निरोध होनेपर मन और वीर्यका निरोध हो जाता है। केवल वीर्यके ऊर्ध्वगामी हो जानेपर मन और प्राण अपने-आप निरुद्ध हो जाते हैं। इसलिये केवल ब्रह्मचर्य-व्रतसे भी मुक्ति हो जाती है। श्रुति कहती है—'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।' (कठ० १।२।१५)

३—निरन्तर सत्-शास्त्रोंका स्वस्थचित्तसे श्रवण करते रहो और श्रवणके पश्चात् मनन और निदिध्यासन चलता रहे तो शास्त्रश्रवणसे भी मुक्ति हो जाती है।

४—तपस्यासे देहाध्यास मिटता है। ज्ञानकी जो सात भूमिकाएँ बतायी हैं, उनमें तीनके पश्चात् आगे ज्यों-ज्यों तितिक्षा बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों उत्तरोत्तर भूमिकाओंकी उपलब्धि होती जायगी। जडभरतजीकी पाँचवीं भूमिका मानी गयी है; क्योंकि यद्यपि वे नग्न रहते थे, सुख-दुःखमें सम थे; देवीके सम्मुख उनका बलिदान किया जाने लगा फिर भी वे विचलित नहीं हुए। नौकरोंने कहारोंके साथ लगा दिया, वहाँ भी बिना किसी आपत्तिके लग गये; फिर भी उन्हें देहानुसंधान तो था ही। राजाको कैसा विलक्षण उपदेश किया। यह उपदेश आदि तीसरी भूमिकाकी बातें हैं। भगवान् वेदव्यास आदि अधिकारारूढ़ महापुरुषोंकी यही भूमिका मानी जाती है। जड-भरतजीने आजतक किसीको उपदेश नहीं दिया था। आत्मानन्दमें निमग्न भ्रमण करते रहते थे; किंतु सौभाग्यशाली राजा रहूगणके भाग्य खुल गये। उनके द्वारा लोक-कल्याण होना था। लोककल्याणकी भावना तो पहिली भूमिका बतायी है। जडभरतजीसे बढ़ी हुई तितिक्षा भगवान् ऋषभदेवकी कही जाती है। उनको छठी भूमिकामें मानते हैं। सातवीं भूमिकाका दृष्टान्त तो भगवान् कपिलदेवजीकी माता देवहूति ही हैं। भागवतके अतिरिक्त ऐसी स्थितिका वर्णन कहीं नहीं मिलता। तपस्याकी उत्तरोत्तर वृद्धिसे ही यह 'ब्राह्मी स्थिति' प्राप्त होती है।

५—निरन्तर शास्त्रावलोकन करता रहे। स्वाध्यायमें निरत रहनेसे भी मुक्ति होती है। वैसे स्वाध्यायका अर्थ जप है; किंतु यहाँ जपको पृथक् गिनाया है। अतः निरन्तर शास्त्रावलोकन ही यहाँ लेना चाहिये। यह बुद्धिका व्यायाम है। बुद्धिको निरन्तर शास्त्र-चिन्तनमें निमग्न रखनेसे वह ब्रह्माकारगामिनी बन जायगी; क्योंकि बुद्धिके समीप ही तो ब्रह्म है—'यो बुद्धेः परतस्तु सः।' (भगवद्गीता ३।४२)

६—स्वधर्मपालनसे भी मुक्ति मिलती है। आप जिस वर्णके हों, जिस आश्रममें हों, अपने वर्ण-आश्रमके धर्मका पालन करते रहें। शूद्रको एक—गृहस्थ-आश्रमका अधिकार है। शूद्र स्वधर्मका पालन करता रहे तो स्वर्गके सुख भोगनेके अनन्तर वैश्य होगा। वैश्यको ब्रह्मचर्य-गृहस्थ दो आश्रमोंका अधिकार है। स्वधर्मपालनरूप धर्मसे स्वर्ग भोगकर वह क्षत्रिय होगा। क्षत्रियको ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ—तीन आश्रमोंका अधिकार है। सविधि स्वधर्म-पालनरूप पुण्यसे स्वर्गोपभोग करके वह ब्राह्मण होगा। ब्राह्मणको ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—चार आश्रमोंका अधिकार है। संन्यास लेकर वह ज्ञानसे विमुक्त हो जायगा। यदि उसके ज्ञानमें यहाँ कुछ कोर-कसर रह गयी और पहले ही मृत्यु हो गयी, तो वह ब्रह्मलोक जायगा। वहाँ ब्रह्माजी उसके ज्ञानकी पूर्ति कर देंगे और ब्रह्माजीके साथ ही वह विमुक्त बन जायगा। इस स्वधर्म-पालनरूप साधनको 'क्रममुक्ति साधन' भी कहते हैं।

७—शास्त्रोंकी प्रबल युक्तियोंद्वारा युक्तियुक्त व्याख्या करनेसे भी मुक्ति होती है; क्योंकि व्याख्या करते समय बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है। भगवान् तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं। स्थूल बुद्धिवाले स्थूल संसारको ही पा सकते हैं। उन अणोरणीयान्को तो परम सूक्ष्म बुद्धिवाले ही देख सकते हैं। इसीलिये उपनिषत्कारोंने कहा है—

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।'

(कठ० १।३।१२)

८—एकान्तसेवन ही करे; किंतु इन्द्रियोंको वशमें करके। विवशतासे नहीं, स्ववश होकर। संसारी कोलाहलोंसे दूर रहकर, संसारी लोगोंसे बिना संसर्ग रक्खे। एकान्तमें रहे, अपने-आपमें ही संतुष्ट रहे तो उसे 'ब्रह्मसंस्पर्शमश्नुते'—'ब्रह्मका स्पर्शमात्र होगा।' ये संसारी जीव स्पर्श-सुखके ही लिये तो कोलाहलपूर्ण संसारमें रहते हैं। इसीलिये तो दीन होकर कुत्तोंकी भाँति पूँछ हिलाते फिरते हैं—'औपस्थ्य-जैह्वकार्पण्याद् गृहपालायते जनः।'—उपस्थेन्द्रिय और जिह्वा-इन्द्रियके सुखके ही लिये तो मनुष्य गृहपाल—

अर्थात् कुत्तेकी भाँति बना हुआ है। इसीलिये कहा है—

> न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
> यत् सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तवासिनः॥

'जो सुख एकान्तवासी मुनिको होता है वह सुख न तो चक्रवर्ती राजाको होता है और न देवताओंके राजा इन्द्रको ही होता है।'

९—निरन्तर मन्त्र-जपसे भी मोक्ष प्राप्त होता है। मन्त्रमें देवता, ऋषि और छन्द—तीन होते हैं। ऋषिको सिरपर धारण करते हैं, छन्दको मुखमें और इष्ट देवताको हृदयमें। जिस मन्त्रका जप करते हैं, उसके अर्थकी भावना भी पीछेसे करते हैं। अर्थ-भावना करते-करते इष्टकी प्राप्ति होती है। इसीलिये शिवजीने पार्वतीजीसे कहा है—

'जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्वरानने।'

'हे वरानने पार्वती! मैं तीन बार प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि केवल जपमात्रसे ही सिद्धि हो जाती है।'

१०—समाधिसे भी मुक्ति होती है। यम और नियम तो योगके ही अङ्ग नहीं, सभी साधनोंमें इनकी आवश्यकता होती है। यम-नियमके बिना तो कोई भी साधक साधन-सम्पन्न नहीं बन सकता। अतः आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन छःको ही 'षडङ्ग-योग' कहते हैं। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—ये बाह्य साधन कहलाते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीन आन्तरिक साधन हैं। धारणाकी परिपक्वावस्थाका ही नाम 'ध्यान' है और ध्यानकी परिपक्वावस्थाको ही 'समाधि' कहते हैं। समाधिसे चित्त एकाग्र होता है। यदि शरीरमें मल न रहकर निर्मल बन जाय, मनमें विक्षेप न होकर बिना विक्षेपके बन जाय और बुद्धिका आवरण हटकर निरावरण बन जाय तो समाधिसे मोक्ष हो ही जाता है।

इस प्रकार ये १० मोक्षके साधन हैं। ये कब साधन हैं? जब साधक जितेन्द्रिय हो। उसने इन्द्रियोंको भलीभाँति जीत लिया हो और तब उसने इन साधनोंका आश्रय लिया हो, तो वह विमुक्त बन सकता है। यदि बिना इन्द्रियोंके जीते अजितेन्द्रिय पुरुष इन साधनोंका आश्रय लेता है तो उसके लिये ये साधन खाने-पीनेका व्यवसाय—जीवन-निर्वाहका साधनमात्र बन जाते हैं। साधन विधिवत् करनेपर भी ऐसे साधक इन्द्रियाँ वशमें न होनेके कारण उसके यथार्थ फलसे वञ्चित हो जाते हैं। उनका वह शुद्ध साधन-व्यवसाय जीवन-निर्वाहका या कामनापूर्तिका कारण बन जाता है। पर जितेन्द्रिय साधकों-को वही मोक्ष देनेवाला होता है; किंतु जो न तो जितेन्द्रिय साधक हैं और न अजितेन्द्रिय साधक ही, केवल दम्भी—ढोंगी हैं, केवल अपनी आजीविका-अर्जनके ही निमित्त, साधन-रूपमें नहीं, ढोंगरूपमें इसे अपनाते हैं, वे तो साधकका नाम ही बदनाम करते हैं। हैं तो वे सर्वथा साधनविरोधी नीच भोगपरायण। ऐसे लोगोंका कभी-कभी तो उससे निर्वाह चल जाता है, कभी उनकी पोल खुल जाती है। उनकी बनावटका भंडाफोड़ हो जाता है। फिर इन बातोंसे उनका जीवन-निर्वाह भी नहीं होता।

जैसे कालनेमि जितेन्द्रिय-अजितेन्द्रिय कैसा भी साधु नहीं था। उसने साधुका केवल वेष बना लिया था। साधुओं-जैसे जटाजूट बना लिये थे। महात्माओंके-से कपड़े पहिन लिये थे। हनुमान्‌जी पहिले तो उसके चक्करमें आ गये। जब अप्सराके कहनेसे उसके यथार्थ रूपको जान गये तब उसका वहीं काम तमाम कर दिया।

रावण कैसा भी साधु नहीं था। उसने साधुका ढोंग बनाया था। साधु-जैसा वेष बना लिया था। उसके वेषको देखकर सीताजी उसे भिक्षा देने निकलीं तो उसने नकली वेष फेंक दिया; यथार्थ रूपमें आ गया। ऐसे लोगोंकी कभी टिप्पस लग जाती है, कभी नहीं भी लगती।

> उघरें अंत न होहि निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥

एक सज्जनने दरभंगाकी ओर कहीं प्रसिद्ध कर रक्खा था कि 'मेरा नाम प्रबुद्धत्त ब्रह्मचारी है।' वह कथा करने लगा। रुपया पैदा करने लगा। थानेमें जाकर अपराधियोंको छुड़ाने लगा। उसकी बड़ी प्रसिद्धि हो गयी। हमारे एक पुलिसमें भक्त हैं—पं० परमानन्दजी पाण्डेय। एक पुलिस इन्स्पेक्टरने उनसे कहा—'पाण्डेयजी! आप तो ब्रह्मचारीजीकी बड़ी भारी प्रशंसा किया करते थे। वे तो हमें बहुत ही हलके अनपढ़ प्रतीत हुए।'

उन्होंने पूछा—'तुमने उन्हें कहाँ देखा?' वे बोले—'वे तो अब भी हमारे यहाँ कथा कर रहे हैं। सोनेका कंठा पहिनते हैं। बड़े ठाट-बाटसे रहते हैं।'

उन्होंने कहा—'वे ब्रह्मचारीजी नहीं हैं। उन्हें पकड़ो।' पुलिसने उन्हें पकड़ा। एक थानेदार बिहारसे मेरे पास

झूसी आया। उसने सब बातें बतायीं। मैंने कहा—'मैंने कोई नाम रजिस्टर्ड तो कराया नहीं है। एक नामके बहुतसे आदमी हो सकते हैं, उसे छोड़ दो।' उसने बताया—वह कहता है 'मैं झूसी रहता हूँ संकीर्तन-भवनमें। मैं ही नेहरूजीके विरुद्ध चुनावमें खड़ा हुआ था।' पीछे सुनते हैं उसे सजा हो गयी। इसीका नाम दम्भ है, बनावट है।

आज हम अजितेन्द्रिय साधक भी नहीं, दम्भी बन गये हैं। हमारा वेषभूषा, उपाधि-आश्रम, व्याख्यान-प्रवचन सब दम्भके लिये होते हैं। हम मोक्षमार्गसे कोसों दूर चले गये हैं। साधनोंकी नकल भले ही कर लें, जबतक हम अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त नहीं करते, सदाचारका पालन नहीं करते, सद्गुणोंको अपने जीवनमें एकीभूत नहीं करते, तबतक हम मुमुक्षु नहीं। मोक्षप्राप्तिके अधिकारी नहीं। सच्चे साधक नहीं।

परंतु इन्द्रियोंको जीतना क्या कोई सरल काम है? क्या इन्द्रियजित् होना गुड़का पूआ है जिसे उठाया कि गप्प कर गये। जितेन्द्रिय होना टेढ़ी खीर है। हम चाहते हुए भी इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोक नहीं सकते। विश्वामित्र आदि ऋषियोंने कितनी तपस्या की। सहस्रों वर्षोंतक घोर तप करते रहे। कहीं कामने विघ्न डाला, कहीं क्रोधने धर दबाया। क्या वे चाहते थे कि हमें काम-क्रोध सतावें? महर्षि सौभरि जनसंसद्से दूर रहकर यमुनाजीके जलमें, जलको स्तम्भन करके सहस्रों वर्ष पर्यन्त तप करते रहे; फिर भी मीनके रंगको देखकर विवाह करनेकी इच्छा हो गयी और एकसे पचास और पचाससे पाँच सहस्र बन गये।

बात यह है कि उनके साधनोंमें तो कोई कमी थी नहीं, संगदोषवश विघ्न आ गये। उन विघ्नोंकी कुछ भी परवा न करके वे साधनमें जुटे रहे। सौभरि मुनिको अन्तमें अपने कृत्यपर पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने कहा—'जिसे मोक्षकी इच्छा हो, उस पुरुषको चाहिये कि वह संसारी विषय-भोगियोंका संग सर्वथा त्याग दे। एक क्षणको भी अपनी इन्द्रियोंको बहिर्मुख न होने दे। अकेला ही एकान्तवास करे। एकान्तमें रहकर अपने चित्तको सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें लगावे। यदि संग करनेकी आवश्यकता ही हो, तो भगवान्के भक्तोंमें, अनन्यनिष्ठ साधकोंमें, प्रभुप्रेमियोंमें और निष्ठावान् महात्माओंमें ही रहे, उन्हींका संग करे।'*

इसलिये इन्द्रियसंयमको मोक्षके साधनोंमें प्राथमिकता दी गयी है। साधनकी इन्द्रियसंयम नींव है। अजितेन्द्रिय पुरुष धन-दौलत, मान-प्रतिष्ठा, बड़ी-बड़ी पदवी भले ही प्राप्त कर ले; किंतु वह मोक्षमार्गका पथिक नहीं बन सकता। जितेन्द्रिय होनेपर भी, जिसके हृदयमें भगवद्भक्ति नहीं, सरसता नहीं, भगवान्के पादपद्मोंमें भरोसा नहीं, उनके प्रति अनुराग नहीं, उनकी दया-कृपापर भरोसा नहीं, उसका जितेन्द्रिय होना भी एक व्यसन-मात्र ही है। अतः भागवतकारने मोक्ष-प्राप्तिके तीन ही मुख्य साधन बताये हैं।

१—एक तो निरन्तर प्रभुकी अनुकम्पाकी सुसमीक्षा, अर्थात् प्रतिक्षण भगवान्को स्मरण करके रोता हुआ यही प्रार्थना करता रहे—'हे प्रभो! मेरे ऊपर कब कृपा करोगे? कब दीनबन्धो! मेरी बारी आयेगी। कब मेरे ऊपर करुणाकी कोर करोगे, कब दीनपर कृपादृष्टिकी वृष्टि होगी?' जैसे चातक सर्वदा स्वातीकी बूँदके लिये बादलकी ही ओर देखता रहता है, उसी प्रकार सदा-सर्वदा प्रभुकी कृपाकी बाट जोहता रहे।

२—अपने प्रारब्धवश जो भी सुख या दुःख आ जाय उसे बिना विरोधके निर्लेप भावसे भोगता रहे।

३—हृदयसे, वाणीसे तथा शरीरसे भगवान्को नमस्कार करता रहे। हृदयसे नमस्कारका भाव है, भगवान्की मूर्तिको हृदयमें बिठाकर उसका ध्यान करे। सोचे—यह जो कुछ है सब तेरा ही है।

वाणीसे मन्त्र जप करे। मन्त्र उसे कहते हैं जिसके आदिमें ओंकार हो, चतुर्थी लगी हो और अन्तमें नमः या स्वाहा हो। जैसे 'ॐ रामाय नमः।' 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।' अथवा सम्बोधन और भगवान्का नाम ही हो। हे राम! हे कृष्ण! हे नाथ! हे दीनबन्धो! यह भी वाणीका नमस्कार है।

---

* सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद् व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः॥
(श्रीमद्भा० ९।६।५१)

शरीरसे भगवान्‌की चल अथवा अचल मूर्तिको साष्टाङ्ग प्रणाम करे। भगवान्‌की चल मूर्ति तो साधु, संत, महात्मा, विद्वान्, ब्राह्मण, भक्त आदि हैं; अचल भगवत्-मूर्ति भगवान्‌के विग्रह हैं। उनको साष्टाङ्ग प्रणाम करता रहे।

इस प्रकार जो इन तीन साधनोंको सावधानीके साथ, बिना आलस्यके निरन्तर करता रहता है, वह भगवान्‌का जो मुक्तिरूप परम धन है, उसका उसी प्रकार उत्तराधिकारी बन जाता है जैसे पुत्र बिना किसी प्रयत्नके पिताकी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी बन जाता है। यही यथार्थमें मुक्तिरूपी परमपदका सुन्दर सोपान है। यही निर्वाण पदकी सुन्दर सीढ़ी है। इसी बातको नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी स्तुति करते हुए श्रीब्रह्माजीने कहा है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ८)

छप्पय—

कृष्ण कृपा कब करें लगन जिनकी चातकवत।
भोगें सुख दुख सहज, भाग्यवश जो कछु आवत॥
मनतें बचतें और देहतें तुमकूँ भिनवें।
हरिमय जग कूँ जानि विनय तें सबकूँ प्रनवें॥
यों जो जीवन धारि प्रभु, शरनागत बनिकें रहें।
पावें पितु धन पुत्र ज्यों, मुक्ति चरन तब त्यों लहें॥
(भागवतदर्शनसे)

तीर्थंकर और सिद्ध

(लेखक—आचार्य श्रीतुलसीजी)

जैन दर्शनके चार ध्रुव सिद्धान्त हैं—

१—आत्मवाद

२—लोकवाद

३—कर्मवाद

४—क्रियावाद

आत्माके अस्तित्वके लिये छः बातें ज्ञातव्य हैं—

१—आत्मा है, २—पुनर्भव है, ३—बन्ध है, ४—बन्धके हेतु हैं, ५—मोक्ष है, ६—मोक्षके हेतु हैं।

प्रत्येक शरीरमें आत्मा है; किंतु किसी भी आत्माका शरीरसे पृथक् अस्तित्व ज्ञात नहीं होता, इसलिये आत्माका अस्तित्व सदा संदेहका विषय बना रहता है। हमारे शरीरमें जाननेवाली सत्ता आत्मा है। वह चिन्मय है। उसमें दृश्य वस्तुओंको जाननेकी क्षमता है। किंतु वह स्वयं पुनर्भवी है या नहीं है, यह जाननेकी क्षमता उसमें विकसित नहीं है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अनुमानके आधारपर कुछ विद्वानोंने यह प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया है कि आत्मा पुनर्भवी नहीं है, तो अनेक विद्वानोंने यह प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया है कि वह पुनर्भवी है। परोक्षके आधारपर दोनों धाराएँ चल रही हैं। प्रत्यक्षका प्रामाण्य किसीके पास नहीं है। यह विषय सूक्ष्म और दूरगामी है, इसलिये इसे केवल तार्किक स्तरपर सुलझाना सम्भव नहीं है। इसके समाधानके लिये तीव्र वैज्ञानिक प्रयत्न या तीव्र साधना निमित्त बन सकती है। जिन व्यक्तियोंके मनमें आत्माकी उत्कट जिज्ञासा जाग उठती है, वे आत्म-दर्शनकी साधनाके पथपर चल पड़ते हैं। यह साधु-जीवनकी भूमिका है।

ध्यानकी उच्चतम भूमिकापर आरोहण करते-करते साधु प्रत्यक्ष-दर्शनको उपलब्ध कर लेते हैं। वे प्रत्यक्षदर्शी (केवलज्ञानी) साधु 'जिन' कहलाते हैं। तीर्थंकरमें कुछ जिन होते हैं, पर सभी जिन तीर्थंकर नहीं होते। तीर्थंकरमें कुछ अतिशायी विशेषताएँ होती हैं। वे धर्म-शासनके शास्ता और पथदर्शक होते हैं। भगवान् महावीर तीर्थंकर थे। उनके शासनमें सैकड़ों जिन थे। जीवनकालमें जिन और तीर्थंकर दो भूमिकाओंमें रहते हैं। निर्वाण होनेपर वे सब सिद्ध बन जाते हैं—समान भूमिकाको प्राप्त हो जाते हैं। सिद्ध अवस्था बन्धन-मुक्तिकी अवस्था है। इस अवस्थामें केवल आत्माका अस्तित्व रहता है। इसलिये सिद्धत्व सबकी सामान्य भूमिका है। जैन आगमसूत्रोंमें सिद्धोंके पंद्रह प्रकार बतलाये गये हैं। किंतु वर्तमान अवस्थासे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका आधार पूर्वजन्मकी स्थिति है। सिद्धोंके पंद्रह प्रकार ये हैं—

१—तीर्थसिद्ध—तीर्थंकरके शासनमें दीक्षित होकर मुक्त होनेवाले।

२—अतीर्थसिद्ध—तीर्थंकरके शासनमें दीक्षित हुए बिना मुक्त होनेवाले।

३—तीर्थंकरसिद्ध—तीर्थंकरके रूपमें मुक्त होनेवाले।

४—अतीर्थंकरसिद्ध—तीर्थंकरकी भूमिकाको प्राप्त किये बिना मुक्त होनेवाले।

५—स्वयंबुद्धसिद्ध—स्वयंबोधि प्राप्त कर मुक्त होनेवाले।

६—प्रत्येकबुद्धसिद्ध—किसी एक निमित्तसे बोधि प्राप्तकर मुक्त होनेवाले।

७—बुद्धबोधितसिद्ध—आचार्यके द्वारा सम्बुद्ध होकर मुक्त होनेवाले।

८—स्त्रीलिंगसिद्ध—स्त्री-जीवनमें मुक्त होनेवाले।

९—पुरुषलिंगसिद्ध—पुरुष-जीवनमें मुक्त होनेवाले।

१०—नपुंसकलिंगसिद्ध—कृत नपुंसक जीवनमें मुक्त होनेवाले।

११—स्वलिंगसिद्ध—मुनिके वेषमें मुक्त होनेवाले।

१२—अन्यलिंगसिद्ध—परिव्राजक आदिके वेषमें मुक्त होनेवाले।

१३—गृहिलिंगसिद्ध—गृहस्थके वेषमें मुक्त होनेवाले।

१४—एकसिद्ध—एक समयमें एक ही मुक्त होनेवाला।

१५—अनेकसिद्ध—एक समयमें अनेक मुक्त होनेवाले।

इन भेदोंमें सत्यकी सम्प्रदाय, लिंग, वेष आदि बाह्य उपकरणोंमें निरपेक्ष स्वीकृति है। अमुक सम्प्रदायमें दीक्षित होनेपर ही कोई मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। अमुक वेष धारण करनेपर ही कोई मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। अमुक लिंगमें ही कोई मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। दूसरोंद्वारा प्रतिबुद्ध होनेपर ही कोई मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। ये एकाङ्गी धारणाएँ इन पंद्रह भेदोंके द्वारा निर्मूल की गयी हैं। मुक्त वह हो सकता है, जो बन्धन-मुक्तिकी साधनामें गतिशील है—सम्यग्-दर्शनी, सम्यग् ज्ञानी और सम्यक् चारित्री है। भगवान् महावीरके अनुसार मुक्तिके नियामक तत्त्व सम्प्रदाय, वेष और लिंग नहीं हैं; किंतु सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं। इनका यथेष्ट विकास होनेपर किसी भी सम्प्रदाय या वेषमें मुक्ति हो सकती है और इनका विकास हुए बिना किसी भी सम्प्रदाय या वेषमें मुक्ति नहीं हो सकती। सम्प्रदाय आदि बाह्य निमित्त हैं। उनका जीवनके साथ आत्मीय सम्बन्ध नहीं है। दर्शन, ज्ञान और चरित्र जीवके मौलिक गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, वीतरागता आदि धर्मोंसे अन्वित सत्ताका नाम 'जीव' है। बन्धन-दशामें ये धर्म आवृत रहते हैं। इनकी साधना करनेपर ये अनावृत होते चले जाते हैं। साधनाकालमें ये मुक्तिके साधन होते हैं और सिद्धि-कालमें ये जीवके स्वाभाविक गुण हो जाते हैं।

जीवके मौलिक गुण चार हैं—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) आनन्द, (४) शक्ति। ये गुण सब सिद्धोंमें समान रूपसे विकसित हो जाते हैं। इसीलिये उस अवस्थामें स्वरूप-कृत कोई तारतम्य नहीं होता। 'आचारांग सूत्र'में सिद्धका स्वरूप निम्न शब्दोंमें व्याख्यात है—

वह संस्थानरहित है—दीर्घ और ह्रस्व नहीं है। वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण और परिमण्डल नहीं है।

वह अरूप है—कृष्ण, नील, लोहित, पीत और शुक्ल नहीं है।

वह अगन्ध है—सुगन्ध और दुर्गन्ध नहीं है।

वह अरस है—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर नहीं है।

वह अस्पर्श है—कर्कश, मृदु, गुरु और लघु नहीं है। शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष नहीं है।

वह अशब्द है—उसमें ध्वनि-प्रकम्पन नहीं है। वह स्त्री, पुरुष और नपुंसक नहीं है।

वह अशरीर, अजन्य और असंग है।

वह अनुपम है—उसके प्रत्यक्ष बोधके लिये कोई उपमा नहीं है।

वह अपद है—उसकी व्याख्याके लिये कोई पद नहीं है। स्वर उसतक पहुँच नहीं पाते। उसे जाननेके लिये कोई तर्क नहीं है। मति उसे ग्रहण नहीं कर पाती। वह चिन्मय अरूपी सत्ता है।

'औपपातिक सूत्र'में सिद्धके बारेमें कुछ विशेष जानकारी मिलती है—मुक्त जीव किससे प्रतिहत हैं? कहाँ स्थित होते हैं? कहाँ शरीरको छोड़ते हैं? और कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं?



गोलोकाधिपति भगवान श्रीराधामाधव

वे अलोकसे प्रतिहत होते हैं, लोकके अग्रभागमें स्थित होते हैं, मनुष्यलोकमें शरीरको छोड़ते हैं और लोकके अग्रभागमें जाकर सिद्ध होते हैं। वे अल्प-साधन (एक दूसरेसे सटे हुए) और ज्ञान-दर्शनमें सतत उपयुक्त होते हैं। उन्हें वैसा सुख प्राप्त होता है, जिसके लिये इस जगत्‌में कोई उपमा नहीं है।

एक राजा अश्वारूढ़ होकर यात्राके लिये गया। उसका घोड़ा वक्र गतिवाला था। वह राजाको घने जंगलमें ले गया। वहाँ एक जंगली आदमी रहता था। उसने राजाका आतिथ्य किया और उसे मार्ग बता दिया। राजा उसे अपने साथ ले गया। उसने संकटमें सहायता की, उसे यादकर राजाने भी उसका बहुत सम्मान किया। उसे बड़े प्रासादमें ठहराया। बड़े-बड़े राजभवन दिखलाये। बढ़िया भोजन कराया। कुछ दिन रहकर वह जंगलमें चला गया। घरवालोंने पूछा तो उसने कहा, 'मैं नगरमें गया था।' 'नगर कैसा होता है?' 'उसमें बहुत बड़े-बड़े घर होते हैं।' उसने बहुत बताया पर उन्हें नहीं समझा सका। इसी प्रकार सिद्धके सुख भी अनुभूतिगम्य हैं, वाणीगम्य नहीं हैं। सिद्धका सुख शाश्वत और निर्विघ्न है, अतुल और क्षोभसे मुक्त है।

जीव सिद्धकी अविकसित दशा है और सिद्ध जीवकी विकसित दशा है। इन दोनोंमें दशा-भेद है, अस्तित्व-भेद नहीं है। प्रत्येक पदार्थका अस्तित्व त्रैकालिक है, तब कोई कारण दिखायी नहीं देता कि जीवका अस्तित्व त्रैकालिक न माना जाय। (प्रेषक—श्रीकमलेश चतुर्वेदी)

पूर्वजन्म और भावसिद्धि

(लेखक—आचार्य श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी महाराज)

परलोकके विषयमें कुछ बोलते समय आत्मनिष्ठाकी आवश्यकता है। यह आत्मनिष्ठा सुलभ नहीं है। जड़देहके अतिरिक्त आत्माको स्वीकार किये बिना परलोकके विषयमें कोई प्रश्न ही नहीं उठता। विभिन्न शरीरोंमें एक आत्माके परिभ्रमणकी सम्भावना माननेपर ही परलोकका विषय विचारणीय होता है। तभी एक विशेष क्रमिक पथ-परिक्रमणके अनुगमनमें विश्वास उत्पन्न होता है। जिसकी बातपर विश्वास हो सके, ऐसे साधक या गुरुका अनुवर्तन किये बिना हृदयमें श्रद्धा या विश्वास नहीं जमता। अन्धविश्वाससे किसी सत्यकी स्थापना नहीं हो सकती। अन्धेके द्वारा प्रदर्शित पथमें बहुत दूरतक रास्ता तय कर लेनेके बाद भी चित्तमें भ्रम उत्पन्न होते ही किसी दूसरे पथ या उपायका अवलम्बन करना पड़ता है। शास्त्र, सदाचारका अनुसरण न कर स्वतन्त्र युक्तिके बलसे वस्तुका निरूपण करनेपर विफलमनोरथ होनेकी ही अधिक सम्भावना रहती है। युक्तिहीन विचार भी नीतिविरुद्ध होता है और सर्वजनग्राह्य नहीं होता। उपधर्म, स्थूलधर्म या धर्मके आभासका अवलम्बन न करना ही युक्तियुक्त है। परलोकतत्त्वका विचार करनेपर भ्रान्त मतके अनुसरणमें पूर्वपरिकल्पित सब प्रकारके लाभ, सुख-प्राप्तिके विचार पूर्णतया परित्यक्त हो जाते हैं। साधनाकी निष्ठा पथभ्रान्त मनुष्यके किसी भी काम नहीं आती। सत्य और शाश्वतका अवलम्बन किये बिना कोई भी सिद्धान्त जीवका कल्याण-साधन नहीं कर सकता।

काल सदासे है। काल नहीं था, इस प्रकारकी काल-सम्बन्धी कल्पना हम नहीं करते। इस अखण्ड कालकी किसी समय सीमारेखा नहीं खींची जा सकती। इस कारण कालको नित्य कहा जाता है। इसी कालमें समय-समयपर विश्वरचनाका वैचित्र्य, अनन्त भेद, प्रलयकी विभीषिका, बन्धन और मुक्ति तथा जन्म और मृत्युकी छायाके दर्शन होते हैं। कालकी सृष्टि मायारचित है। इस कारण वह अमूलक छायादर्शन है। कालातीत वस्तु ही स्वतन्त्र, सत्य अथवा अन्यनिरपेक्ष है। काल, कर्म, प्रकृति, जीव—सभी परमेश्वरके अधीन हैं, निरपेक्ष नहीं हैं। मेघाच्छन्न अमावस्याकी रात्रिका घना अन्धकार हमारी दृष्टिको अभिभूत कर लेता है। हम निकटस्थ स्थायी स्तम्भको भी नहीं देख पाते हैं, दूसरी वस्तुओंकी बात तो दूर रही। प्रलयकालीन तमोगुणके प्रभावमें चिरन्तन जीवसत्ता, जगत्‌का अस्तित्व अथवा परमात्माकी सत्यता—किसीकी भी उपलब्धि नहीं होती है। केवल शून्य, अज्ञान, मायाका अधिकार रहता है। उसमें किसी जीव-जगत्, स्थावर-जङ्गम किसीका भी परिचय प्राप्त नहीं होता। परमात्माके आलोकमें, सत्य-ज्ञान-आनन्दके पुलकमें, सृष्टिका बीज अङ्कुरित होनेपर विभिन्न रूप, रस,

गन्धमें अनन्त देवगण अपनेको विलसित करते हैं। सूर्यकी किरणोंसे रंग ग्रहण करके जैसे पुष्प अनेक रंगोंके हो जाते हैं, उसी प्रकार एक परमात्माकी किरण-छटामें अनन्त जीव कर्मवासनासे जगत्‌में विचरण करते हैं। अनादिकालसे यह विचरण चल रहा है। अनन्त पथपर चलते हुए मार्गमें कितने तीर्थ-दर्शन, कितने सुख तथा कितने दुःख आते हैं। स्वर्ग है, नरक है। कर्ममय जीवनको क्या कोई किसी प्रकार अस्वीकार कर सकता है? प्रतिक्षण अपनेको उत्कर्षका अधिकारी बनानेकी चेष्टामें ही प्राणीकी प्राणसत्ताका परिचय है।

विश्वप्राण एक होकर भी बहुत होनेकी इच्छा करता है। यह मौलिक इच्छा या कामना, सृष्टि करनेकी इच्छाका प्रथम स्पन्दन जीव-सृष्टिके जन्म-मृत्युका प्रकृष्ट सङ्केत है। अव्यक्तसे व्यक्त, सूक्ष्मसे स्थूल रूपमें आना जन्म-यात्रामें उतरना है। स्थूलसे, व्यक्तसे, अस्थूल-अव्यक्तमें लौटना मृत्युके पथमें पदार्पण करना है। इस प्रकार जड और चेतनका व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपमें प्रकाश और अप्रकाश होता रहता है। जन्म-मृत्युके द्वारपर जगत्‌के जीव पुरुषार्थ-सिद्धिके लिये निर्बाध गतिसे निरन्तर दौड़-धूप कर रहे हैं। यह दौड़-धूपका वेग क्रमशः बढ़ रहा है—एकके बाद एक, सृष्टिके प्रत्येक स्तरमें, उत्कर्ष-प्राप्तिकी शीघ्रतामें, पूर्णता-प्राप्तिकी उत्कण्ठामें, पथ-परिक्रमणके उल्लासमें। अगणित रूपोंमें, रसोंमें, लालसाओंमें, अभिलाषाओंमें आवर्तन, विवर्तन, परिस्फुरण, परिनमनके माध्यमसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवसत्ता प्राणमय कोषके अधिकारमें कर्ममय ऐतिह्योंका वहन करती हुई मनुष्य बनी है। उसके मनुष्यजन्मकृत संचित, आंशिक भुक्त, भोग्य और प्रारब्ध कर्मकी समष्टि है। पूर्व-जन्मोंमें जो कर्म किये गये हैं, उनके चिह्न वर्तमान जीवनके छन्द-छन्दमें स्पष्ट झलक रहे हैं। संचित कर्म उसके भाग्यको नियन्त्रित करते हैं, कर्मकी प्रेरणा और प्रवृत्तिको उद्‌बुद्ध करते हैं। एक ही मनुष्यके भीतर क्षेत्रविशेषमें साँप, बाघ, हंस, भ्रमर, कभी राक्षस और कभी देवताका भाव प्रकट हो उठता है। इसके द्वारा उसके विभिन्न योनिमें भ्रमणकी बात पण्डितलोग शास्त्र-प्रमाणके द्वारा निर्धारण करते हैं।

प्रमाण माने बिना प्रमेयका निर्णय नहीं होता। परलोक, जन्मान्तर, जन्म-मृत्यु और आत्माके रहस्यको माननेके लिये अलौकिक शास्त्र-प्रमाणको स्वीकार करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अलौकिक तत्त्व केवल युक्तिके द्वारा साध्य नहीं होता।

अजा, अज्ञेया मायाकी सृष्टि ब्रह्माण्ड है; जीव उसके अन्तर्गत है। स्वरूपतः जीव अणु होनेपर भी सत्, चित् और आनन्दमयका अंश है; अतएव नित्य है। जीव नित्य है, उसका स्वभाव नित्य है। यह जीव मनुष्यके रूपमें अभिव्यक्त होकर नित्य आनन्दमय भगवान्‌के संग मिलनेके लिये साधनामें प्रवृत्त होता है। अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेपर जो मनुष्यदेह प्राप्त होता है, वह सबसे श्रेष्ठ लाभ है, यह बात अनेक बार कही जा चुकी है। इन्द्रिय आदिके संस्थान, मनोवृत्तिके उत्कर्ष, ज्ञान-विज्ञान तथा ईश्वरानुरागके द्वारा मनुष्य सृष्टिमें अनन्यसाधारण जीव है। जन्म-मृत्युका व्यवधान मिटाकर इहलोक और परलोकमें मधुर सम्बन्ध-स्थापन करनेका अधिकार साधक मनुष्यको ही है। अनन्त पथके यात्रीके रूपमें उसको जो मन्त्रग्रहण करना पड़ता है, जिस साधनामें अपनेको लगाना पड़ता है, उसका पूर्ण अधिकार मनुष्यको है। यह मनुष्य-देहकी प्राप्ति देव-दुर्लभ है; क्योंकि साधनाका मूल इस मानव-जीवनमें ही है। इस एक जीवनमें शत-शत जीवनकी समस्याओंका समाधान हो जाता है। बद्ध जीव, जब उसको अपने स्वरूपका ज्ञान होता है, मुक्त हो जाता है। जीव परम पुरुषोत्तमके विभिन्न अंश—उनकी तटस्था शक्तिके विलास हैं। सूर्य और उसकी किरण जैसे स्वरूपतः अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न है; अग्नि और उसकी चिनगारी अथवा समुद्र और उसके तरङ्गोंमें जैसे भेदाभेदका सम्बन्ध है; उसी प्रकार अंशी कृष्ण और जीवमें भेदाभेद है। भक्तलोग जीवका अभिन्न होनेपर भी भिन्न रूपमें चिन्तन करते हैं। यह भेद मुक्तिकी अवस्थामें भी रहता है।

अतस्तस्मादभिन्नास्ते भिन्ना अपि सतां मताः।
मुक्तौ सत्यामपि प्रायो भेदस्तिष्ठेद्‌तो हि सः॥
(बृहद्भागवतामृतम् २। २। १८६)

आचार्य श्रीशंकरका वाक्य है—

'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ति।'

इससे इस विषयका दिग्दर्शन होता है।

श्रीमद्भागवतमें भी देखा जाता है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥
(६ । १४ । ५)

मुक्तिमें जीवसत्ता जब ब्रह्ममें लय हो जाती है तो फिर लीलामें विग्रह धारण करेगा कौन ? अथवा कौन सिद्ध होकर मुक्तिके पश्चात् भी फिर नारायण-परायण होगा ? पद्मपुराणमें भगवान्‌में महामुनिका मनुष्य-शरीर लय हो जानेके पश्चात् भी पुनः नारायण मुनिके रूपमें आविर्भाव होनेकी कथा आती है । बृहत् नरसिंहपुराणमें नृसिंहचतुर्दशी-व्रतके प्रसङ्गमें वेश्याके सहित ब्राह्मणके भगवान्‌में लीन हो जानेके बाद भी पुनः भार्याके सहित प्रह्लादके रूपमें आविर्भावका वर्णन है । परंतु यदि भगवदिच्छा हो तो वे किसीको सायुज्य नामक निर्वाण भी दे सकते हैं । इसीलिये मूल श्लोकमें 'प्रायः' शब्दका व्यवहार किया गया है । सत् या असत्‌के साथ जीवका उत्थान या पतन होता है । कभी स्वर्ग, कभी नरक भोग मिलता है । शास्त्र अनुशासन करते हुए जीवके उत्कर्षके मार्गका निर्देश करते हैं । देवर्षि नारद अपने पूर्वजन्मका स्मरण करके वेदव्याससे कहते हैं कि 'मैं पूर्वजन्ममें एक दासीके गर्भसे उत्पन्न हुआ था । मेरी माता थी वेदज्ञ ब्राह्मणोंकी सेविका । वर्षाकालमें चार मास एक स्थानपर अवस्थान करनेवाले साधु-संतोंकी सेवामें मैं नियुक्त था । साधुजन मुझपर अनुग्रह करते थे । उनके उच्छिष्ट पात्रका अवशिष्ट भोजन करनेसे मेरा हृदय भगवद्भावसे भावित हो गया । प्रतिदिन साधु-संतोंके मुखसे श्रीकृष्ण-कथा, श्रीकृष्ण-गुणगान सुनते-सुनते मेरी श्रीकृष्णमें रति हो गयी । तब मैंने समझा कि परमात्मा परब्रह्मकी मायाके द्वारा स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चात्मक देहकी सृष्टि हुई है । इस प्रकार विश्वके रहस्यका ज्ञान मुझको हुआ—'

तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामुने
प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम ।
ययाहमेतत्सदसत्स्वमायया
पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ॥
(श्रीमद्भा० १ । ५ । २७)

जन्म-जरा और मृत्यु, सब कुछ मायिक है, तथापि इनसे भय-विभीषिका कम नहीं होती । भगवान् कपिलमुनि माता देवहूतिसे जन्म-मृत्युका रहस्य कहते हैं—

जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः ।
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ३१ । ४४)

जीव एक लोकसे दूसरे लोकमें जाता है, यह असम्भव नहीं है । वह अपने उपाधिमय लिङ्गशरीरको धारण करके परलोक-गमन करता है । नवीन देहमें नवीन कर्मोंमें प्रवृत्त होता है । कर्मानुसार फलभोग करता है । उपाधिमय लिङ्गशरीर तथा पाञ्चभौतिक इन्द्रियोंसे युक्त स्थूलशरीर—इन दोनोंके जब एक साथ मिलकर कर्म करनेकी क्षमता नहीं रहती है, तब कहते हैं कि 'मृत्यु' हो गयी । लिङ्गशरीर और भोगायतन मन-इन्द्रियसे युक्त स्थूलशरीरका एक साथ मिलकर प्रकट होना ही 'जन्म' कहलाता है । इस जन्मके साथ एक अभिमान—अर्थात् मैं हूँ और मेरा शरीर है—इस प्रकारकी एक अवस्था रहती ही है । इसी 'मैं और मेरा'की भावनाका जब पूर्णतया विस्मरण हो जाता है, तो कहा जाता है कि 'मृत्यु' हो गयी । एकादश इन्द्रिय और पञ्च तन्मात्राएँ, इन सोलह पदार्थोंके साथ सत्रहवाँ जीवचैतन्य मिलकर स्थूलशरीरमें हर्ष-शोक, भय, दुःख और सुख आदि विभिन्न भावोंसे आक्रान्त होता है'—

अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चति ।
हर्षं शोकं भयं दुःखं सुखं चानेन विन्दति ॥
(श्रीमद्भा० ४ । २९ । ७५)

पञ्च प्राण, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि—वेदान्तमें सूक्ष्मशरीरके ये ही सप्तदश अवयव हैं । ऐसा भी कहा जाता है, सूक्ष्मशरीरको लेकर जीवचैतन्यका स्थूलदेहमें प्रवेश ही 'जन्म' है । सूक्ष्मशरीर स्वरूप और परिमाणमें भी सूक्ष्म होता है, अतएव अदृश्य तथा सर्वत्र निर्बाध विचरणमें समर्थ होता है । मृत्युके समय यह सूक्ष्मदेह ही जीवको स्थूल देहसे वहन करके ले जाता है । उस समय इसका नाम 'आतिवाहिक' देह होता है तथा यही प्रेतशरीरके नामसे परिचित होता है । इसके बाद यथानियम स्थूलदेह या भोगदेह प्राप्त होता है । वेदानुगत शास्त्रोंके अनुशासनमें अवस्थित वेदोक्त दस संस्कारोंमें विश्वास रखनेवाले मनुष्यका ही श्राद्ध आदि अनुष्ठान होता है । शास्त्रोक्त पारलौकिक अनुष्ठान यथोचित रूपमें अनुष्ठित होनेपर मृत व्यक्तिकी प्रेतत्वसे मुक्ति होती है और कर्मफलके भोगके उपयुक्त देह प्राप्त होती है । जीवनकालमें जिस प्रकारके कर्म किये जाते हैं, मनुष्यकी तदनुसार ही शुक्ल या कृष्ण मार्गसे गति होती है । एक परावर्तनका मार्ग है और दूसरा अनन्तका । उस मार्गसे जानेपर फिर लौटना नहीं होता । कर्मविपाक किस आदमीको कहाँ ले जायगा,

यह कहना कठिन है। जो लोग समझते हैं कि जीव निरन्तर उत्कर्षकी ओर जा रहा है, उनकी बात दूसरी है; परंतु शास्त्रमें विश्वास रखनेवाले साधक मनुष्यका उत्थान-पतन, उत्कृष्ट देहकी प्राप्ति तथा निकृष्ट योनिमें जन्म—दोनोंको ही स्वीकार करते हैं। इसी कारण साधक अविचारपूर्वक किसी निन्दित कर्ममें प्रवृत्त नहीं हो सकते। भूलसे यदि कोई दुःसङ्ग हो जाय तो उसके लिये प्रायश्चित्त करके शुद्ध होनेके लिये यत्न करते हैं। मृत्युके पहले ही बहुतसे लोग स्वेच्छासे आत्मशुद्धिके लिये प्रायश्चित्त किया करते हैं। हरिनामकी साधना करनेवाले साधक श्रीभगवान्के नामकीर्तनको ही सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त समझते हैं। वे लोग हृदयकी शुद्धिके लिये अन्य किसी प्रकारके प्रायश्चित्तको स्वतन्त्ररूपसे प्रधानता नहीं प्रदान करते। सब कर्मानुष्ठानोंमें उनको पूर्णत्व प्राप्त करानेके लिये श्रीहरिनामकीर्तनकी व्यवस्था श्रुति-स्मृति-सम्मत है। जीवनमें और मरणमें हरिस्मरण ही उनके लिये काम्य है। वे कहते हैं—

हों मनुष्य चाहे पशु पक्षी या बन जायें कीट पतङ्ग।
आना जाना रहे कर्मवश मति नित रहे तुम्हारे सङ्ग॥

अर्थात् 'हे प्रभु! हम चाहे मनुष्य, पशु-पक्षी या कीट-पतङ्ग किसी भी योनिमें जन्म लें, कर्मविपाकसे चाहे बारंबार आवागमन हो, किंतु हमारी बुद्धि सदा तुम्हारेमें लगी रहे।'

जैसी भावना वैसा ही भव। अर्थात् भावनाके अनुसार ही भव (संसार) मिलता है। जिसमें जो भाव मुख्यरूपसे होता है, वही उसके भावी जीवनका पथ-प्रदर्शक होता है। इसलिये देहकी शुद्धि जैसे आवश्यक है, वैसे ही भावकी शुद्धि भी आवश्यक है। शुद्धभाव रहते इहलोक हो या परलोक—'भगवद्धाममें ही मैं हूँ'—इस प्रकारकी अनुभव-सम्पत्ति समानरूपसे प्राप्त होती है। तब शरीरके रहने या न रहनेका कोई आग्रह या अनाग्रह नहीं होता तथा देह-त्याग या देह-प्राप्तिमें हर्ष या शोक भी विचलित नहीं करता।

साधारण मनुष्य जो पाप-पुण्यकी भावनासे कर्म करते हैं, वे लोग भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक अथवा स्वर्ग आदिकी गति प्राप्त करते हैं। चित्तशुद्धि होनेपर निष्काम व्यक्ति तथा त्यागी साधु महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और अन्तमें सत्यलोकपर्यन्त गमन करके मुक्त हो सकते हैं। किसी-किसीकी क्रममुक्तिके मार्गसे धीरे-धीरे अग्रगति होती है और किसी-किसीकी विशेष सौभाग्य उदय होनेपर सद्योमुक्ति होती है। साधुसङ्गके प्रभावसे जो लोग निष्काम भक्तिपथके पथिक होते हैं, उनमें भी तारतम्य देखा जाता है। कोई ज्ञानमिश्रित भक्ति करते हैं, कोई शुद्धा भक्तिके साधक होते हैं, तो कोई प्रेम-भक्तिका अनुशीलन करते हैं। इनके अतिरिक्त प्रेमपरायण और प्रेमातुर भक्त भी प्राप्त होते हैं। उनके भजनरसकी विभिन्नताके कारण भगवत्प्राप्तिमें भी तारतम्य माना गया है। वैकुण्ठ-वर्णनमें सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सार्ष्टि मुक्तिकी बात प्रसिद्ध है। भक्तके जीवनमें सायुज्य तो कभी भी आदरणीय नहीं होता। इस सायुज्य मुक्तिको तो श्रीकृष्णसे विद्वेष रखनेवाले भी श्रीकृष्णके हाथों मारे जानेके फलस्वरूप प्राप्त कर चुके हैं, ऐसा सुना जाता है।

भगवान्के मन्दिरमें प्रविष्ट सभी भक्तोंको आनन्दका अनुभव होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। किंतु जो लोग विशेष रसयुक्त प्रीतिविशेषमें भगवान्की कृपा प्राप्त करके रास आदि नृत्य-विलासके द्वारा आनन्दमयको आनन्द प्रदान करते हैं, उनके लिये एक ऐसा कोई विशेष स्थान है, जिसे वैकुण्ठसे भी अधिक सुखमय कह सकते हैं। इसको भी अवश्य ही मानना पड़ता है। यहाँ ब्रह्मसंहिता (५। ४६)का अवतरण दिया जाता है—

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि-
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

ब्रह्माजी कहते हैं कि 'सच्चिदानन्दविग्रह आदिपुरुष गोविन्दको मैं भजता हूँ। श्रीकृष्ण गोविन्द प्रेमरसमय हैं, उनकी शक्ति भी प्रेमरसमयी है। इस प्रकारकी आनन्दिनी मूर्तिमयी शक्तियोंके साथ गोलोकमें वे नित्य विहार करते हैं।' यह गोलोक कहाँ है? कैसा है? कैसे, किस मार्गसे वहाँ जाना होता है?—इस प्रकारकी जिज्ञासा साधकके मनमें होती है।

सारी कर्मवासनाओंके क्षय होनेपर पाञ्चभौतिक देहके पतनके पश्चात् विदेहमुक्ति होती है, यह बात हमने सुनी है। देहान्तर न होनेपर भी देहके परमाणुओंके चिन्मय होनेकी बात भी कुछ प्रचलित है। वैष्णव साधक, भावान्तरके द्वारा यह शरीर किस प्रकार अप्राकृत राज्यमें प्रवेश करता है तथा चिन्मय शरीरके साथ अङ्गाङ्गीभाव स्थापन करता है, इसका वर्णन विशदरूपसे करते हैं।

गोलोकधामके दर्शन और अनुभवके सम्बन्धमें हम यहाँ कुछ चर्चा करेंगे।

एक ब्राह्मण धनकी आशासे कामाख्या देवीकी उपासना करते थे। देवीने उनकी श्रद्धासे संतुष्ट होकर उनको स्वप्नमें दस अक्षरका श्रीमदनगोपाल मन्त्र प्रदान किया। साध्य-साधनके विषयमें जानकारी न होनेपर भी उस जपके फलसे ब्राह्मणका हृदय कामनारहित हो गया। वे मन्त्र-जप पूरा करके तीर्थभ्रमणके लिये निकले। वैष्णव लोगोंके उपदेशसे, सत्सङ्गके फलस्वरूप एकान्तमें मन्त्र-जपके प्रभावसे उन ब्राह्मणको आनन्दमूर्च्छा हुई। उसको भी उन्होंने जपके मार्गमें विघ्नरूप माना। एक दिन उनको श्रीभगवान्‌का आदेश हुआ कि 'वृन्दावन जाओ, वहाँ परम आनन्द प्राप्त करोगे। रास्तेमें देर न करना।' वृन्दावन जानेपर उनको गोपकुमारके रूपमें श्रीगुरुदेव प्राप्त हुए। गोपकुमारने कृपापूर्वक अपने जीवनकी कहानी उनको सुनायी। साधनाकी प्रथम अवस्था देहान्तरकी भावना या जन्मान्तरकी विभीषिका नहीं है। शुद्ध भावके सम्बन्धसे ही साधककी देह सिद्धदेह हो जाती है। दीक्षाके प्रभावसे सत्सङ्गके द्वारा भगवद्धाममें अवस्थितिका अनुभव करके उनको नवजन्म प्राप्त होता है।

नूतन मनुष्य बननेके लिये पहले महान् पुरुषकी कृपा चाहिये। दीक्षा ग्रहण करना परम आवश्यक है। नियमित मन्त्रजपसे एकके बाद एक भगवद्विग्रहके प्रति श्रद्धा होती है। शालग्रामचक्र, चतुर्भुज श्रीनारायण, श्रीजगन्नाथ, श्रीवामन भगवान्, यज्ञेश्वर भगवान और तपोलोकमें परमात्माका अनुसंधान तथा सत्यलोकमें सहस्रशीर्षा पुरुषकी महिमाका पता लगता है।

मायाके प्रभावसे मुक्त साधक चिरदीप्त पराकाश, परव्योम या चिदाकाशका दर्शन करता है। इस अनुभवके राज्यमें प्रवेश करनेके लिये भगवद्भक्तिके सिवा और कोई उपाय शास्त्रोंमें प्रदर्शित नहीं हुआ है। मर्त्यलोकमें हमलोग देवीधाम, शिवधाम, श्रीक्षेत्र, अयोध्या, द्वारका, मथुरा, गोकुल, वृन्दावन आदिका दर्शन करते हैं; परंतु इन सब तीर्थस्थानोंकी महिमा ग्रहण करनेका सौभाग्य सबको नहीं होता। इसका कारण है हमारे अंदर साधनाका अभाव।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें प्रकृतिके पार विभु परव्योम धामके विषयमें कहा गया है कि—

सर्वग अनन्त ब्रह्म वैकुण्ठादि धाम।
कृष्ण कृष्ण अवतारेर ताहाइ विश्राम॥
ताहार उपरि अगे कृष्णलोक ख्याति।
द्वारका, मथुरा, गोकुल त्रिविधत्वे स्थिति॥
सर्वोपरि श्रीगोकुल व्रजलोक धाम।
श्रीगोलोक श्वेतद्वीप वृन्दावन नाम॥

श्रीभगवान्‌के पूर्णतम प्रेम, माधुर्य-विलासका धाम श्रीगोलोक है। श्रीकृष्ण एक स्थानमें रहते हुए ही सभी भक्तोंके स्थानोंमें साक्षात् अनुभूत होते हैं। भगवान् अपने धाम अप्राकृत चिन्मय परव्योममें रहते हुए ही प्राकृत संसारमें प्रकट होकर प्रत्यक्ष अनुभवका विषय बनते हैं। साधारण मनुष्य उनकी विवेचना करते हुए देशविशेषका विचार करके ही उनके धामके सम्बन्धमें सिद्धान्त बनाते हैं। यह धामतत्त्व अप्राकृत मनमें प्रत्यक्ष होता है, कृपासे जाना जाता है तथा प्रेम-सेवाकी लालसासे प्राप्त होता है। यह बात साधक लोग हमको स्मरण कराते हैं—

सर्वग अनन्त विभु कृष्ण तनु सम।
उपर्यधो व्यापियाछे नाहिक नियम॥

भक्तके प्रति अनुग्रह करनेके लिये रसिकेन्द्रचूडामणि परम करुणामय श्रीकृष्णकी इच्छासे प्राकृत ब्रह्माण्डमें भी प्रेमप्रोज्ज्वल चिन्मय धाम प्रकाशित होता है। यही क्यों, उनकी चिर आनन्दमयी लीला भी उसके साथ प्रकाशित होती है। वह लीला, वह धाम-माधुर्य, काम-कामना-दूषित मन-प्राणमें अनुभूत नहीं होता। इसके लिये चाहिये—शुचि शुभ्र जीवनशोभा। श्रीकृष्णविलास-भूमिके यथार्थ दर्शनके लिये आवश्यक है—अक्लान्त उत्कण्ठा, निराविल दैन्य, निरलस नामाश्रय तथा ऐकान्तिक प्रेमप्रकर्ष।

चिन्तामणि भूमि कल्पवृक्षमय वन।
चर्मचक्षे देखे तारे प्रपञ्चेर सम॥
प्रेमनेत्रे देखे तार स्वरूप प्रकाश।
गोपगोपी सङ्गे जाहाँ कृष्णेर विलास॥

समाधि-दर्शन और प्रेमदर्शनकी, अन्तरानुभव और बाह्यदर्शनकी विचित्रताकी बात भूल जानेसे काम नहीं चलेगा। समाहित होनेपर अहंतत्त्व लय हो जाता है। उसके साथ ही बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियोंकी—

इन्द्रियोंकी और अन्तःकरणकी वृत्ति लुप्त हो जाती है। अनुभवकर्त्ता और अनुभवका अभाव होता है। उस समय जो सुख होता है, उसको शून्यरूपताके सिवा और क्या कहेंगे !

परं समाधौ सुखमेकमस्फुटं
वृत्तेरभावान्मनसो न चाततम्।
वृत्तौ स्फुरद्वस्तु तदेव भासते-
ऽधिकं यथैव स्फटिकाचले महः॥

(बृहद्भागवतामृतम् २ । २ । २१५)

अनुभवसे जो आनन्द नहीं प्राप्त होता है, वह भी निरानन्द है। गलेमें मणिमय हार रहनेसे क्या होगा, यदि उसकी स्मृति नहीं है ! भक्तिसुखका अनुभव करनेवाला भक्त नित्य है; अनुभवके कर्म श्रीभगवान् अनिर्वचनीय और अनुभवनीय नित्य हैं। अनुभूति बाह्य और अन्तरिन्द्रियकी वृत्ति नव-नव माधुर्य ग्रहण करनेमें प्रकृष्ट रूपसे नित्य स्फूर्ति प्राप्त करती रहती है। 'मैं उनका सेवक हूँ, सर्वदा पादसंवाहनादि करता हूँ'—ऐसे अनुभवका प्रतिदिन उत्कर्ष होता है। 'उनके रूप, गुण और लीलाका माधुर्य प्रतिक्षण नवनवायमान होकर मेरे नयन, मन और प्राणमें अनुभूत होता है। मैं उत्तरोत्तर अधिक उल्लासके साथ नामकीर्तन करता हूं, जप करता हूँ, विग्रह-सेवा करता हूँ। उनके ही चरणारविन्दके स्मरणमें ही मन लगा रहता है। दूसरी-दूसरी भावनाएँ बाधा नहीं दे सकतीं। जैसे सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे स्फटिकके पहाड़की उज्ज्वलता क्रमशः बढ़ती है, उसी प्रकार मेरे अनुभवमें श्रीकृष्णकी कृपा-किरणके सम्पातसे उत्तरोत्तर आनन्दोल्लास बढ़ता है।

कदापि तस्मिन्नेवाहं लीयमानोऽनुकम्पया।
रक्षेय निजपादाब्जनखांशुस्पर्शतोऽमुना॥

(बृहद्भागवतामृतम् २ । ३ । ४०)

कभी-कभी सायुज्य मुक्तिके समान उनकी प्रदीप्त कान्तिमें मानो डूब जानेपर मैं उनके श्रीविग्रहकी करुणाकी बात स्मरण करता हूँ। तब वे ही मुझको निज पदकमलका स्पर्शदान करके सजग कर देते हैं। मैं फिर सेव्य-सेवक सम्बन्धमें लौट आता हूँ।

भगवान् सेवककी लालसा पूर्ण करते है। सेवक भी अनन्यभावसे अपने प्रियतमके लीलामाधुर्यके प्रकाशनमें सहचर होता है। मर्त्यलोकमें द्वारका, मथुरा, वृन्दावनमें उनकी लीला होती है। वैसे ही वैकुण्ठके ऊपर अवस्थित कृष्णलोकमें तदनुरूप लीला नित्य होती रहती है। श्रीगोविन्दकी गोलोकलीलामें इस प्रकारका गौरववर्द्धित माधुर्यपूर्ण व्यवहार है कि कोई यह समझ नहीं सकता कि वह मर्त्यलोकमें है या अमृतलोकमें है। गोलोक, कृष्णलोक सबसे ऊर्ध्व सर्वोत्कृष्ट सब देशोंका चूड़ामणि है।

ब्रह्मसंहिता (५ । ५२) का यह वर्णन स्मरण रखने योग्य है—

गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य
देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

गोप्रधान देश होनेके कारण ही 'गोलोक' नाम प्रसिद्ध है। सब धामोंके ऊपर गोलोक है। उसी गोलोकके नाथ भूलोकमें प्रिय वृन्दावनको सर्वदा निजपद-अङ्कित करके क्रीड़ाविशेषका विस्तार करते हैं। ऐसी लीला अन्य किसी धाममें नहीं होती। भूतलमें वृन्दावनके समान ही गोलोकमें भी नित्य ही यह लीला होती रहती है। पृथ्वीके वक्षः-स्थलपर गोकुल-वृन्दावनमें प्रकट और अप्रकट भेदसे यह लीला साधारण जीवके भाग्यमें कभी दर्शनीय और कभी अदृश्य होती है। प्रेमकी आँखोंसे तो सदा ही दर्शनीय होती है। इस आनन्दलीलामें प्रवेशलाभ करना ही मनुष्यका नया जन्म है। इसीके लिये श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने प्रेमभक्तिके अनुशीलनकी श्रीरूप-सनातन आदि निज भक्तजनको शिक्षा दी है—

लीलैव नित्या प्रभुपादपद्मयो-
र्या सच्चिदानन्दमयी किल स्वयम्।
आकृष्यमाणेव तदीयसेवया
तत्तत् परीवारयुता प्रवर्तते॥

श्रीराधावल्लभकी, निज परिकरगणके सहित, जिसके साथ जैसी समुचित है, उसी प्रकारकी, नित्य लीला प्रवर्तित होती रहती है। यह लीला सच्चिदानन्दमयी है; अतएव सब प्रकारके दोषोंसे रहित है। प्राकृत व्यवहारकी दृष्टिसे देखनेपर भी वह निर्दोष है। अपने भक्तगणकी सेवाकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये ही वे मानवी लीला करते रहते हैं।

बीज और जीव

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

इस विश्व-प्रपञ्चमें ऐसा कोई प्राणी नहीं है, ब्रह्मासे लेकर कीट-पतङ्गपर्यन्त, जो दुःखसे परहेज (परिजिहीर्षा ?) न करता हो और उससे बचनेका यत्न न करता हो। विवेकदृष्टिसे देखनेपर स्पष्ट हो जाता है कि दुःख अपने स्वरूपके अनुरूप नहीं; प्रतिरूप है। इसीसे बिना माता-पिता, गुरु और शास्त्रकी किसी प्रकारकी शिक्षा प्राप्त किये, बिना सिखाये, बिना संस्कार डाले स्वाभाविक ही मृत्यु, अज्ञान, भय आदिसे अरुचि होती है। विचार करके देखें तो जो दुःख बीत गया, उससे छूटनेका कोई प्रश्न नहीं। जो प्रतीत हो रहा है, वह बीतता जा रहा है। जो आनेवाला है, वह ज्ञात नहीं है। फिर दुःखसे छूटनेकी इच्छाका क्या अर्थ हुआ ? जिन कारणोंसे दुःख होते हैं उन कारणोंसे छुटकारा—सदाके लिये छुटकारा, सर्वत्रके लिये छुटकारा, सर्वरूपसे छुटकारा, अर्थात् आत्यन्तिक दुःखमुक्ति। ऐसी स्थितिमें स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि दुःखका कारण क्या है ? और उसके निवारणका उपाय क्या है ?

देहके साथ ही दुःखका उदय होता है। जन्म-मरण—दोनोंमें ही दुःखका अनुभव होता है। रोग, वियोग, भोग, संयोग, अनुकूल-प्रतिकूल—सब देहके सम्बन्धसे ही होता है। स्वाधीनता-पराधीनता भी इसीके साथ लगी हुई है। धर्म-कर्म-अवस्था-स्थिति—सब देहके ही कच्चे-बच्चे हैं। इस देहका सम्बन्ध ही दुःखका हेतु है। सम्बन्ध क्या है;—'मैं' और 'मेरे'के रूपमें इसे स्वीकार करना। अपने स्वरूपका विवेक करें और अपनेको देहसे अलग समझ लें—'नाहं न मे'—'न मैं, न मेरा'। बस, देहके बारेमें जो कुछ कहा जाय, वह कहा जाने दो। जो कुछ हो, सो हो। जैसे रहे, वैसे रहे। यह न 'मैं', न 'मेरा'। मैं द्रष्टा, साक्षी, असङ्ग, उदासीन। देहके दुःखसे मैं दुखी नहीं, देहके सुखसे सुखी नहीं। देहकी मृत्यु और जडता मेरा स्पर्श नहीं करती। इसके रोग और भोग मुझे छूते नहीं। इसके निरोध और विरोधका मुझे कोई अनुरोध नहीं है। इसकी श्रान्ति और भ्रान्तिसे मेरी शान्तिमें कोई विघ्न नहीं पड़ता। 'अहं' और 'मम'के रूपमें देहको ग्रहण करना ही दुःखका उपादान है। 'अहम्मानादुत्पत्तिर्दृश्यदर्शनम्।' इसका अर्थ हुआ कि देह दुःख है और इसको आत्मा अथवा आत्मीयरूपसे ग्रहण करना उपादान है। जब उपादान कारण ही नहीं रहेगा तो कार्य कहाँ ?

अब सुनिये। यह देह कहाँसे आ गया ? 'मैं-मेरा' छोड़ देनेपर यह कहाँ चला जायगा ? इस देहसे फिर वैसा ही सम्बन्ध नहीं हो जायगा, इसका क्या आश्वासन है ? देह चाहे एक तत्त्वसे बना हो, चाहे अनेकसे, जड धातुमें इसका घटन या गठन बिना धर्माधर्मके तो हो नहीं सकता। धर्माधर्म बनता है कर्मसे। कर्म होता है शरीरसे। फिर तो देहकी संतानपरम्पराका कभी उच्छेद नहीं होगा; क्योंकि जैसे पहलेसे विहित और निषिद्ध कर्म होते आये हैं, होते हैं, वैसे ही होते रहेंगे। देहसे कर्म और कर्मसे देह। ये दोनों बीज-वृक्षके समान अनादि परम्परासे चले आ रहे हैं। तब क्या जीवका जीवन एक बीजका जीवन है ? नहीं, नहीं; बीजके जीवनमें और जीवके जीवनमें आकाश-पातालका अन्तर है। जीव अविनाशी चेतन है और बीज विनाशी जड। आइये, एक बार दोनोंकी तुलना कर लें।

आपके हाथमें एक बीज है। क्या आप पहचानते हैं कि यह किस वृक्ष या फलका बीज है ? यदि हाँ, तो इसे देखते ही आप इसके पूर्व रूप और उत्तर रूपकी कल्पना कर सकते हैं। यह बीज कैसे मूल, तनों, डालियों, पल्लव एवं पुष्पोंको पार करता हुआ आया है। अब यह बोनेपर फिर उसीसे मिलता-जुलता रूप ग्रहण करेगा। क्या यह सब बीजमें दीखता है ? नहीं, परंतु है सब बीजमें समाया हुआ। बीजको पृथ्वी, जल, गर्मी, प्रकाश, वायु और अवकाश—सब कुछ चाहिये। खेत, खाद, सिंचाई। वह आर्द्र होगा, फूलेगा, अङ्कुरित होगा, बढ़ेगा। उसे देश चाहिये, काल चाहिये। यह सब कुछ होनेपर भी वह अपने स्वभावके अनुसार ही आकृति, रूप, स्वाद प्रकट करेगा। बीज अनादि परम्परासे चला आ रहा है, अन्तर्बहिः ऊर्ध्वाधः गति प्राप्त करता रहा है और यह तबतक चलता रहेगा, जबतक इसका बीजत्व अग्नि आदिके द्वारा नष्ट न हो जाय।

अब आप एक जीवको अपनी कल्पनाके हाथमें लीजिये। उसमें एक विशेष प्रकारका जीवत्व है। उसको भी आविर्भाव-तिरोभावके लिये काल चाहिये। गमनागमनके

लिये देशकी अपेक्षा है। नाना प्रकारके रूप ग्रहण करनेके लिये द्रव्यकी आवश्यकता है। यह गमनागमन जन्म-मरण और रूप-परिवर्तन कर्मके सम्बन्धसे होते हैं। बिना कर्मके उठना गिरना, जीना मरना अथवा जाना आना नहीं हो सकता। एक ही वस्तु कर्मके बिना अनेक आकारोंमें परिवर्तित नहीं हो सकती। यही कर्म प्राकृत जगत्में विकार या विक्रियाके नामसे कहे जाते हैं, जो एक विशिष्ट प्रक्रियासे आकृतियोंकी धाराका निर्माण करते हैं और यही कर्म जीव-जगत्में कर्तृत्वपूर्वक किये जानेके कारण एक विशिष्ट वासनाजन्य संस्कारका रूप ग्रहण करते हैं, जिससे उनकी संज्ञा धर्म अथवा अधर्म हो जाती है। चैतन्यकी प्रधानतासे जीव होता है और जडत्वकी प्रधानतासे बीज। जीवका 'व'कार उसकी अन्तःस्थताका सूचक है और बीजका 'ब'कार बहिष्ठताका। बीज केवल निर्माणका हेतु है; परंतु जीव निर्माण और प्रमाण दोनोंका। बीजकी शक्तियाँ केवल भौतिक द्रव्यमें रहती हैं और जीवकी भौतिक अभौतिक दोनोंमें। जीवके बहिःकरण और अन्तःकरण दोनों जाग्रत् रहते हैं; परंतु बीजके करण मूर्छित होते हैं। बीजमें धर्माधर्मकी उत्पत्ति नहीं होती; परंतु जीव प्रमाणवृत्तिका आधार होने एवं कर्ममें स्वतन्त्र होनेके कारण धर्माधर्मका आधार बनता है। बीज भोग्यांश-प्रधान है और जीव भोक्ता-अंश-प्रधान; इसलिये जीवका सुख-दुःख जाग्रत् है और बीजका सुषुप्त। जीव अपने धर्माधर्मके द्वारा ऊर्ध्वगति और अधोगति प्राप्त करता है; बीज प्रकृतिकी स्वाभाविक धारामें विवश होकर।

जीव भी प्रकृतिके राज्यमें ऊर्ध्वस्रोत, तिर्यक्स्रोत और अधःस्रोत—तीन प्रकारके होते हैं। प्रायः पहले दोनोंमें जडत्वकी प्रधानता रहती है; परन्तु अधःस्रोतमें प्राकृत उन्नतिकी पूर्णता हो जाती है। यह ऊपरसे भोजन लेकर नीचेकी ओर बढ़ता है। यह मनुष्ययोनि पूर्णा ही है। इसमें कर्म, ज्ञान और प्रेमके प्रकट होनेकी पूर्ण योग्यता है; क्योंकि नवीन-नवीन कर्म करनेके लिये हस्त आदि इन्द्रियोंका, नित्य नूतन आविष्कार करनेके लिये बुद्धिका और आनन्दानुभूतिके लिये प्रेमका विकास स्पष्ट देखनेमें आता है। इस योनिमें सद्भाव, चिद्भाव एवं आनन्दभावके अनुभवकी पूर्ण योग्यता है। यह अपने अन्तःकरणमें विद्या एवं कर्मका संस्कार धारण करता है और पूर्व प्रज्ञाका उदय भी देखनेमें आता है। इसलिये धर्माधर्मका सम्पूर्ण दायित्व मनुष्योंमें ही प्रकट होता है।

अधर्माचरण करनेसे देह, इन्द्रिय और मनपर जीवका नियन्त्रण शिथिल हो जाता है; इसलिये उन्हें पुनः प्रकृतिके नियन्त्रणमें जाकर उद्भिज, स्वेदज, अण्डज या द्विहस्त-द्विपादसे इतर जरायुज होना पड़ता है। धर्माचरणसे देह, इन्द्रिय और मनकी शुद्धि और नियन्त्रणकी वृद्धि होनेपर दैवी राज्यमें प्रवेशकी योग्यता मिलती है। दैवी राज्यमें भी प्रथमतः ऐन्द्रियक सुखका ही उत्कर्ष प्राप्त होता है; परन्तु एक इष्टकी अनन्यभावसे उपासना करनेपर ऐन्द्रियक सुखसे विलक्षण इष्टदेवसम्बन्धी दैवी सुखका आविर्भाव होता है। धर्मसुखमें अनेक देवता, मन्त्र और विधि-विधानके कारण फलमें भी अनेकता होती है और उपासनामें एक इष्ट मन्त्र, पद्धति और निष्ठा होनेके कारण भाव-प्रधान एकाग्रवृत्तिमें भागवतसुखका आविर्भाव होता है। अन्तःकरणके साक्षी स्वयप्रकाश चेतनका देश, काल और द्रव्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वृत्तियोंके विरोधमें यही द्रष्टा आत्मा स्वरूपमें स्थित हो जाता है। तब यह देशकृत गमनागमन, कालकृत जन्म-मरण और द्रव्यकृत योनिपरिवर्तनसे मुक्त हो जाता है। उपाधियोंसे असंग हो जानेके कारण उस समय यह द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है; परंतु समाधि टूट जानेपर इसका फिर वृत्तिसारूप्य हो जाता है, इसलिये वृत्तियोंके नियन्ताद्वारा इसका भी नियन्त्रण और जन्म-मरण आदि शक्य हो जाता है। परंतु वेदान्तोक्त ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होनेपर देश-कालादिका बाध अर्थात् मिथ्यात्व निश्चय हो जाता है, तब जन्म-मरणादिकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। जबतक वृत्तिमें सत्यता और उनके साथ तादात्म्य रहेगा, तबतक भेदकी सत्यता, द्रष्टाकी अनेकता और ईश्वरकी पृथक्ताको कोई मिटा नहीं सकता। इसलिये जन्म-मरणका प्रवाह बना ही रहेगा। बीजत्व भौतिक होनेसे अनादि होनेपर भी भौतिकाग्नि-नाश्य है; परंतु जीव चेतन होनेके कारण भौतिकाग्नि-नाश्य नहीं है। इसका वृत्तियोंके मूलभूत वासनाबीज-संस्कारोंके साथ अविद्यामूलक तादात्म्य है, इसलिये ज्ञानाग्निके द्वारा अविद्याका दाह हुए बिना जीवका जीवत्व निवृत्त नहीं

हो सकता। जीव चेतन है, उसकी जीवनसत्ता अनादि और अनन्त है। वह देश, काल और द्रव्यकी कल्पनाको अपनी दृष्टिमें धारण करता है। देश, काल, द्रव्यकी भासमानता बाधित है और चेतनका स्वरूप सर्वथा अबाधित। अनुभवकी प्रणालीमें अपना नास्तित्व नहीं है। कोई भी यह अनुभव नहीं कर सकता कि मैं नहीं हूँ। इसलिये जीवका वास्तविक जीवन अनन्त और अद्वय है। वह अपनी कल्पनामें ही भासमान कालके साथ तादात्म्यापन्न होकर अपनेको नित्य, देशके साथ तादात्म्यापन्न होकर व्यापक और द्रव्यके साथ तादात्म्यापन्न होकर सर्वात्मक समझता है। वस्तुतः ये नित्यता, व्यापकता और सर्वात्मकता भी उसके यथार्थ स्वरूप नहीं हैं, कल्पित दृश्यमें तादात्म्यके कारण ही हैं। अधिष्ठान चेतन ही वस्तुतः जीवका यथार्थ स्वरूप है और उसमें द्वैतका किंचित् भी भेद नहीं है। बाधित भासमानताका कोई मूल्य नहीं है। वस्तुतः बीजत्व और जीवत्व आविद्यक हैं। बीजसत्ता और जीवसत्ता दोनों ही अखण्ड चिन्मात्र सत्तासे अभिन्न हैं।

अब फिर एक बार पहली बातपर लौट चलें। किसी भी एक वस्तुमें अनेकाकारताका कारण क्या है? विक्रिया अथवा क्रिया। विक्रिया प्राकृत अथवा स्वाभाविक है; परंतु क्रिया कर्ताके द्वारा अनुष्ठित है। क्रिया धर्म अथवा अधर्मसे अनुविद्ध होती है; क्योंकि उसके मूलमें प्राप्ति अथवा परिहारकी इच्छा रहती है। प्राप्तिकी इच्छा शोभनाध्यासमूलक है और परिहारकी इच्छा अशोभनाध्यास-मूलक है। इसी इच्छाकी दृढ़ता-अदृढ़तासे विहित-प्रतिषिद्ध क्रियाका आचरण होता है। अध्यास अज्ञानमूलक है। इसलिये जबतक अज्ञान रहेगा, तबतक अध्यास रहेगा और जबतक वह रहेगा, तबतक वासनाकी निवृत्ति न होनेके कारण जन्म-मृत्युका चक्र भी निवृत्त नहीं हो सकता। इस चक्रकी निवृत्तिके लिये वेदान्तज्ञानकी अपेक्षा है। यदि यह कालकी प्रधानतासे जन्म-मरण, देशकी प्रधानतासे गमनागमन, द्रव्यकी प्रधानतासे योनिपरिवर्तन, ईश्वरके द्वारा नियन्त्रित कर्मफल न होता और अज्ञानी जीव इस फलको भोगनेके लिये बाध्य न होता, तो तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य ज्ञानकी आवश्यकता ही न होती और सम्पूर्ण वेदान्तका श्रवण, मनन, निदिध्यासन व्यर्थ हो जाता। ब्रह्मात्मैक्यज्ञानकी आवश्यकता ही इनकी निवृत्तिके लिये है।

श्रीगौडपादाचार्यजी महाराजने, जिन्हें श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मसूत्रके शारीरक भाष्यमें 'सम्प्रदायविद्'के नामसे स्मरण किया है और श्रीसुरेश्वराचार्यने 'वेदान्तमर्मज्ञवृद्ध'के रूपमें अपनी कृतियोंमें स्थान-स्थानपर समादृत किया है; कहा है---

> यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः ।
> क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥

आत्माको ब्रह्म अर्थात् देश, काल, वस्तुपरिच्छेदसे रहित सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य न जानकर यह बात मानी जाती है कि मैं धर्म-अधर्मका कर्ता और उसके फल सुख-दुःखादिका भोक्ता हूँ, तब जन्म-मरणरूप संसारकी वृद्धि होती है। जब ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे अज्ञानमूलक कर्तृत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, परिच्छिन्नत्व आदि बाधित हो जाते हैं, तब जन्म-मरण, गमनागमन आदि अनर्थमय संसारकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिये तत्त्वज्ञानके पूर्व पुनर्जन्म और परलोकको न मानना वेदान्तविद्यासे विमुख करनेवाला है और घोर अनर्थमें फँसानेवाला है।

यह बात सर्वथा वेदान्तसम्मत और युक्तियुक्त है कि जीवका जीवन अखण्ड चिन्मात्र सत्ता ही है। अज्ञानके कारण ही भेदभ्रम होता है। भेदमात्र ही प्रातिभासिक है। भेदवस्तु सत्य नहीं है। तत्त्वतः अपने स्वयंप्रकाश अधिष्ठानसे भिन्न भी नहीं है। अपना आत्मा ही यह अधिष्ठान है। अन्ततः हम आपके अनुसंधानके लिये एक वेदमन्त्र उपस्थित करते हैं—

> यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्
> अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।
> उपाधिना क्रियते भेदरूपो
> देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥

पुनर्जन्मका मौलिक आधार

(लेखक—स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

मानव-मस्तिष्ककी जहाँतक पहुँच है उन सम्पूर्ण पदार्थोंका विभाजन दो प्रधान विभागोंमें हो सकता है। एक तो वे पदार्थ जो हमारे अनुभवके विषय हैं और दूसरा वह जो उन सबको जाननेवाला है। दार्शनिक भाषामें इन्हींको क्रमशः दृश्य और द्रष्टा अथवा जड और चेतन कहते हैं। इनमें सम्पूर्ण दृश्यवर्गका जो मूलकारण है, उसीको प्रकृति, प्रधान या माया कहते हैं। द्रष्टा कभी किसीका भी दृश्य या विषय नहीं होता, अतः इस समय उसके विषयमें कोई विचार नहीं करना है। किंतु इतना तो स्पष्ट है कि दृश्य सर्वदा परिवर्तित होता रहता है और द्रष्टा अपरिवर्तनशील है। प्रकृति या माया स्वभावसे ही परिवर्तनशील है। यदि सच पूछा जाय तो परिवर्तनके कारण ही उसकी प्रतीति होती है। अपने मूलरूपमें तो वह भी अव्यक्त और अलिङ्ग ही है। उसमें क्षोभ होनेपर जब वह व्यक्त रूपमें आती है, तभी उसकी प्रतीति होती है। उसका यह व्यक्त रूप ही प्रपञ्च है और यह निरन्तर परिवर्तनशील है।

परिवर्तनमें स्थिति तो क्षणिक ही होती है। वास्तवमें तो उत्पत्ति और प्रलयके क्रमका नाम ही परिवर्तन है। यह क्रम स्थूल-सूक्ष्म तथा समष्टि-व्यष्टि सभी पदार्थोंमें पाया जाता है। जिस प्रकार हमारे स्थूलशरीरमें परिवर्तन होता है वैसे ही सूक्ष्मशरीरमें भी होता रहता है। इस दृष्टिसे यद्यपि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, तथापि व्यवहारमें हमें उनमें स्थितिका भास भी होता है। किंतु यह भास है केवल प्रतीतिमात्र ही। वास्तवमें सदृश परिवर्तन ही हमें स्थिति जान पड़ता है। जैसे दीपशिखा और जल-तरङ्ग प्रतिक्षण नयी-नयी होनेपर भी हमें स्थिर सी जान पड़ती है, उसी प्रकार पदार्थ भी वास्तवमें क्षणपरिणामी होनेपर भी हमें स्थिर-से जान पड़ते हैं। सच पूछा जाय तो इस सदृश परिवर्तन या प्रतीयमान स्थितिका नाम ही 'पदार्थ' है, तात्त्विक दृष्टिसे तो केवल सतत परिवर्तन या गतिका ही भास होता है, पदार्थकी कोई सत्ता नहीं है।

इस प्रकार क्षणिक या स्थायी जितने भी पदार्थ हैं, उन सभीका आरम्भ और अन्त होता है। आरम्भका नाम 'उत्पत्ति' है और अन्तका नाम 'नाश' है। अतः सभी पदार्थ उत्पत्ति-नाशशील हैं और यह उत्पत्ति-नाशका क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस क्रमके द्वारा पदार्थका केवल परिवर्तन होता है, तात्त्विक नाश नहीं होता। जिस प्रकार घट फूटकर कपाल हो जाता है, कपाल टूटकर कपालिकाएँ हो जाती हैं, कपालिकाएँ पिसकर चूर्ण हो जाती हैं, चूर्ण खादके साथ मिलकर पेड़ और पौधोंका आहार हो जाता है और फिर उनके फल-फूलका रूप भी धारण कर लेता है, इसी प्रकार विश्वके सम्पूर्ण पदार्थ बिगड़-बिगड़कर नये-नये रूप धारण करते रहते हैं। ये रूपान्तर ही इन पदार्थोंके जन्मान्तर हैं। अतः संसारका प्रत्येक पदार्थ स्वभावसे ही नये-नये जन्म धारण करता रहता है। उसका आत्यन्तिक उच्छेद कभी नहीं होता।

यह तो हुई जड तत्त्वकी बात। अब हमें जीवके जन्मान्तरके विषयमें विचार करना है। ऊपर हमने जिन द्रष्टा और दृश्य दो तत्त्वोंका उल्लेख किया है उनमें परिवर्तन केवल दृश्यका ही स्वभाव है, द्रष्टामें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। किंतु जीव एक ऐसा तत्त्व है, जिसे न केवल दृश्य कह सकते हैं और न द्रष्टा ही। परंतु यह इन दोनोंसे विलक्षण कोई तीसरा तत्त्व भी नहीं है। द्रष्टा सम्पूर्ण दृश्यका प्रकाशक है। उसका दृश्यके धर्मोंसे कभी कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि अविवेकवश उसमें उन धर्मोंके सम्बन्धकी भ्रान्ति होने लगी है। जिस प्रकार फिल्मके पर्देपर प्रतीत होनेवाले दृश्योंसे यद्यपि उस पर्देका कोई सम्बन्ध नहीं होता, तथापि उसके बिना उनकी प्रतीति भी नहीं होती; इसलिये वह उनसे सम्बद्ध-सा जान पड़ता है। इसी प्रकार दृश्यका आधार होनेके कारण द्रष्टा दृश्यके धर्मोंमें उपरक्त-सा जान पड़ता है। इस अविवेकजनित उपरक्तिके कारण ही वह अपनेको स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरके धर्मोंसे सम्बद्ध ही नहीं, सम्पन्न समझने लगता है। इस देहाध्यासके कारण ही वह विशुद्ध द्रष्टा न रहकर कर्मोंका कर्त्ता तथा कर्मफलोंका भोक्ता बन जाता है और देहके सुख-दुःखके कारण अपनेको सुखी-दुखी मानने लगता है। इसीसे उसकी संज्ञा 'जीव' हो जाती है। इस प्रकार शुद्ध साक्षी ही अविवेकवश कर्त्ता-भोक्ता जीव बन

जाता है और शरीरके साथ अपना तादात्म्य मानने लगता है।

परिवर्तनके क्रममें स्थूलशरीर तो यहीं सड़ जानेपर कृमि, किसीके द्वारा खा लिये जानेपर विष्ठा और जला दिया जानेपर भस्म हो जाता है। परंतु सूक्ष्मशरीर तो संस्कारोंका पुतला है। उसपर इस स्थूल जगत्के किसी घातक कारणका कोई प्रभाव नहीं होता। वह अपने संस्कारोंके अनुसार परिवर्तित होता है। जीवका उससे तादात्म्य है ही, अतः वह उसके परिवर्तनको अपना ही परिवर्तन या पुनर्जन्म मान बैठता है। इस प्रकार यद्यपि पुनर्जन्म सूक्ष्मशरीरका होता है, तथापि वह कहा जाता है जीवका।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि पुनर्जन्म तो नवीन स्थूलशरीर धारण करना है, सूक्ष्मशरीरमें परिवर्तन होना तो पुनर्जन्म नहीं है। फिर ऐसा क्यों कहा गया?

यह शङ्का ठीक है। परंतु सोचिये तो सही कि सूक्ष्मशरीर कहते किसे हैं? अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण—इनके समुच्चयका नाम सूक्ष्मशरीर है। इनमें अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रिय तो ज्ञानशक्ति हैं और कर्मेन्द्रिय तथा प्राण क्रियाशक्ति हैं। इस प्रकार ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिके समूहका नाम ही सूक्ष्मशरीर है। ये दोनों शक्तियाँ निराधार नहीं रह सकतीं। किसी-न-किसी प्रकारका स्थूलशरीर स्वीकार करनेपर ही ये अपने व्यापारमें समर्थ हो सकती हैं। अतः अपने व्यापारके लिये सूक्ष्मशरीर सर्वदा किसी-न-किसी स्थूल आधारकी कल्पना कर लेता है। इसीसे शरीर-त्यागके समय भी पहले आतिवाहिक शरीरकी कल्पना करके पूर्वदेहको त्यागता है और उसीके द्वारा लोकान्तरोंमें आकर अपने पाप-पुण्यके अनुसार दुःख-सुख भोगकर जन्मान्तर ग्रहण करता है।

इसी संदर्भमें हम आधुनिक भौतिकवादियोंके एक प्रमुख सिद्धान्तकी समीक्षा भी कर लें। उनका मत है कि आत्मा या चेतन कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। यह जड प्रकृतिका ही परिणाम है। अतः रोगादिके कारण जब स्थूलशरीर कार्यक्षम नहीं रहता तो उसकी चेतना नष्ट हो जाती है और फिर उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता। ये लोग प्रकृति या जड तत्त्वको ही एकमात्र परमार्थ तत्त्व मानते हैं। इन्हें 'जडाद्वैतवादी' कहा जा सकता है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टिकी चरम परिणति दो छोरोंपर ही होती है। एक ओर जडाद्वैत है और दूसरी ओर ब्रह्माद्वैत। एक पक्षकी दृष्टिमें केवल जड तत्त्वकी ही सत्ता है, चेतन उसका विकार है और दूसरे पक्षकी दृष्टिमें केवल चिन्मात्र परब्रह्मकी ही सत्ता है, जड उसमें अध्यस्त है। यदि प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाय तो प्रश्न होता है कि जबतक चेतनका विकास नहीं हुआ था, तबतक जडकी सत्ता प्रकाशित किससे होती थी? जड प्रकाश्य है, अतः किसी प्रकाशकके बिना उसकी सत्ता सिद्ध ही नहीं हो सकती। चेतन तो स्वयंप्रकाश है, उसकी सिद्धिके लिये किसी अन्य प्रकाशककी सत्ता अपेक्षित नहीं होती। उसमें बिना किसी अन्य साधन-सामग्रीके स्वतः ही प्रपञ्चकी प्रतीति हो जाती है—यह स्वप्न-प्रपञ्चके रूपमें हमें नित्य ही अनुभव होता रहता है। अतः जडाद्वैतवादियोंका विचार युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। ये लोग जिस चेतनका विकास जड तत्त्वसे कहते हैं, वह तो अन्तःकरण तथा इन्द्रियवर्ग हैं। वे अवश्य जडके परिणाम हैं; परंतु वे कर्ता-भोक्ता जीव नहीं हैं। वे तो उसके कर्म और भोगके साधन हैं। वे कर्ता नहीं, करण हैं।

जन्मान्तर स्वीकार करनेवालोंमें भी कुछ लोगोंका मत है कि मनुष्य दूसरे जन्ममें मनुष्य ही होता है। वह पशु-पक्षी या किसी अन्य योनिमें नहीं जा सकता; क्योंकि उसमें मानवोचित संस्कार बद्धमूल हो जाते हैं। परंतु शास्त्र और विचारदृष्टिसे यह बात भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती। जीवका स्वभाव है कि वह जिस परिस्थिति, अवस्था या शरीरमें होता है, उसीसे उसका तादात्म्य हो जाता है। जब आप विद्यालयमें अध्ययन करते हैं तब अपनेको विद्यार्थी मानते हैं। जब अध्ययन समाप्त करके पढ़ाना आरम्भ कर देते हैं तो अपनेको अध्यापक मानने लगते हैं। इस प्रकार परिस्थिति परिवर्तित होते ही आपकी अहंता बदल जाती है। जाग्रत् अवस्थामें अपनेको वयोवृद्ध अध्यापकके रूपमें देखते हैं और स्वप्नमें युवक विद्यार्थीके रूपमें देखते हैं तो उस अवस्थामें भी आपको कोई संदेह नहीं होता। अतः अवस्थाके परिवर्तनसे भी आपकी अहंता बदल जाती है। इसी प्रकार जब सम्बन्ध, पद, प्रान्त और धर्मके परिवर्तनसे भी आपकी अहंताका परिवर्तन होता देखा गया है तो मृत्युके द्वारा देहान्तरकी प्राप्ति होनेपर अहंताके परिवर्तनमें कोई बाधा कैसे आ सकती है? अतः उपर्युक्त तर्काभासके आधारपर शास्त्रीय सिद्धान्तको स्वीकार न करना युक्तियुक्त नहीं है।

इस प्रकार निश्चय हुआ कि जिस प्रकार प्रत्येक प्रतीयमान पदार्थ परिवर्तित होता रहता है, उसी प्रकार जीव भी अपने संस्कारोंके अनुसार नये-नये शरीर धारण करता रहता है। संसारमें ऐसा तो कोई पदार्थ नहीं है, जिसमें परिवर्तन न होता हो अथवा जिसका सर्वथा उच्छेद हो जाता हो। जो कुछ प्रतीत होता है, वह न तो शाश्वत है और न अलीक है। यद्यपि जीव वास्तवमें तो शुद्ध चिन्मात्र, एकरस और शाश्वत तत्त्व है; किंतु परिवर्तनशील शरीरसे तादात्म्य स्वीकार करके वह कर्ता, भोक्ता तथा जन्म-मरणशील जान पड़ता है, यही उसका बन्धन है। जबतक यह अविवेक बना हुआ है, तबतक जन्म-मरणके चक्रसे उसका छुटकारा नहीं हो सकता। जब तत्त्वज्ञानके द्वारा उसे अपने वास्तविक स्वरूपका बोध प्राप्त हो जाता है, तब तो संसारकी सत्ता ही नहीं रहती। यही उसकी मुक्ति है। फिर शरीर या शरीरके धर्मोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता और वह अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। किंतु जबतक प्रतीति-की सत्ता है, तबतक परिवर्तन भी अनिवार्य है और इस परिवर्तनकी ही एक संज्ञा जन्म-मरण भी है। यह जन्म-मरणकी परम्परा ही जन्मान्तर या पुनर्जन्म है। अतः परिवर्तनकी प्रतीति ही पुनर्जन्मका मौलिक आधार है।

पुनर्जन्म—अनुमान, अनुभव और शास्त्रसिद्ध

(लेखक—आचार्य श्रीविनोबा)

पुनर्जन्म होता है, इसके अनेक प्रमाण हैं। यानी मेरे लिये यह जन्म जितना सिद्ध है, उतना ही पहलेका और आगेका भी। इसमें किसी प्रकारके संदेहकी गुंजाइश नहीं।

सृष्टि—अनादि और अनन्त

मेरा निश्चित मानना है कि इस सृष्टिमें कहीं भी यह नहीं कह सकते कि यहाँ उसका अन्त और यहाँ आदि है। वह अनादि और अनन्त है। सृष्टिका स्वरूप ही यह है। आसमानमें कितने तारे हैं, इसकी अब भी गिनती हो रही है। परार्धका आकड़ा तो खतम ही होगा। 'रेडियो एस्ट्रानामी' बता रही है कि वहाँसे यहाँ प्रकाश पहुँचनेमें दस लाख वर्ष लगते है। इसकी अन्तिम हद कहाँ है, कह नहीं सकते। हिंदुस्तानकी हद तो कश्मीरतक है, लेकिन दुनियाकी हद कहाँ समाप्त होती है, उसकी सीमा कहाँतक है, उसके 'बार्डर' के बाद क्या है, मालूम नहीं! यदि उसका अन्त हो, तो उसके बाद वहाँ क्या कोई ठोस चीज है? तरल (लिक्विड) है या गैस, क्या है! कुछ है—यदि गैस या तरल है या कोई ठोस चीज है, तो दुनियाका वह अन्त नहीं। यानी कुछ अस्तित्व है। स्पेस हो तो भी अस्तित्व है। सारांश, दुनिया वहाँ समाप्त नहीं है। दुनियाका अन्त है ही नहीं।

हमारा स्वरूप भी अनादि-अनन्त

सत्तर साल हुए यहाँ जन्मा। ७० सालसे पहले नहीं था। ८० सालमें मर गया। तो मरनेके बाद उसका स्वरूप कुछ नहीं है और जन्मसे पहले भी कुछ नहीं था; यह हो नहीं सकता। जीवका इस सृष्टिमें कब प्रवेश हुआ, मालूम नहीं। वह कबतक इस सृष्टिमें रहेगा, यह भी मालूम नहीं। यदि हम यह मानें कि हम पहले नहीं थे और मरनेके बाद नहीं रहेंगे, तो कई समस्याएँ खड़ी होंगी। लेकिन सब समस्याओंका उत्तर मिलेगा, यदि हम यह जान जायँ कि हमारा स्वरूप अनादि-अनन्त है।

कर्म-विपाक—प्रबल प्रमाण

यदि हम यह मानें कि हमारा स्वरूप अनादि-अनन्त नहीं, तो फिर कर्म-विपाक भी कुण्ठित हो जायगा। हमने जन्म पाया तो बचपनसे ही हमारे किये कर्मोंका क्षय होने लगा। हमने सुदृढ़ माता-पिताके पेटसे जन्म पाया। जीवन जीने लगे, कुछ दुःख हुआ तो कुछ सुख। लेकिन यदि हम पहले नहीं थे तो सुख-दुःखके लिये जिम्मेवार भी नहीं होंगे। तब सुख या दुःखकी जिम्मेवारी हमपर नहीं आयेगी। यदि हमने आज बुरा काम किया तो दुःख हो, यह ठीक है। लेकिन 'हमने पहले जन्ममें कुछ किया होगा, इसलिये अब दुःख भुगत रहे हैं' ऐसा हम मानते हैं तो यह बात 'पहले नहीं थे और मरनेके बाद भी कुछ नहीं रहेंगे' इससे मेल नहीं खाती। सारांश, पहले और आगेकी बातें यदि नहीं मानते तो कर्म और कर्मफलका नियम टूट जाता है। यह दूसरा प्रमाण है।

स्वात्मानुभव—तीसरा प्रमाण

तीसरा प्रमाण है साक्षात् स्वानुभव। जैसे-जैसे कार्य-कारण-परम्परा खुलती जाती है, वैसे-वैसे चित्त निर्मल होता जाता है। पुरानी चीजें याद आती हैं। यदि हम प्रयत्न करें तो कुछ चीजें और याद आ सकती हैं। कुछ लोग ऐसे मिलते हैं, जो अपने पुराने जन्मकी बातें कहते हैं। बुद्धि जितनी संस्कारोंसे मुक्त रहेगी, साफ रहेगी, उतना वह पुराने जन्मका स्मरण कर सकेगी। ब्यौरेमें नहीं, लेकिन कुछ धुँधला या मोटा-मोटा स्मरण हो ही सकता है। पुराने जमानेमें जो विशेष काम या प्रयोग किया होगा, वह याद आ सकता है। कहते हैं कि ज्ञानदेवने लिखा है कि 'मैं पुराने जमानेमें राजा था।' डाक्टर एनी बेसेन्टने भी अपनी कुछ कहानियाँ लिख रक्खी हैं। गौतमबुद्धके बारेमें भी ऐसी ही कहानियाँ कही जाती हैं।

बचपनमें मैं अपनी माँके पास था। पूनाकी बात है। माँ मुझे कहीं ले जानेवाली थी। मैं तीन-चार सालका बच्चा था। जहाँ वह मुझे ले जानेवाली थी, उस स्थानका, उस घरका वर्णन मैंने किया कि 'वहाँ ऐसा आँगन होगा, ऐसा कुँआ होगा' आदि। ठीक वैसा ही घर निकला। सम्भव है, वह 'काकतालीय' न्याय हो। उससे पूर्वजन्म होता ही है, ऐसा नहीं। शायद माँने मुझसे कहा हो—'तुम्हारा इस घरके साथ पूर्वजन्ममें सम्बन्ध रहा होगा। इसीलिये यह एक-एक बात ध्यानमें रह गयी।'

दूसरा, मुझे यह भास होता है कि 'पूर्व-जन्ममें मैं बंगाली था।' कारण, घुमक्कड़ हूँ ही, घूमते-घूमते बंगाल पहुँच गया तो देखा, जितना समय और श्रम दूसरी भाषाएँ सीखनेमें लगा, उससे बहुत आसानीसे बंगला मैंने सीख ली। यह मेरा अंदाज ही है।

तीसरा अनुमान यह कि मुझे बचपनमें कई प्रकारके आकर्षण नहीं हुए। बड़ौदामें कई आकर्षक चीजें थीं, लेकिन मुझपर उनका कोई परिणाम नहीं हुआ। एक बार मेरे मित्र बहुत आग्रह कर मुझे सिनेमा ले गये। मैं अपने साथ दरी लेता गया। वहाँ जाकर लंबी तानकर सो गया। इस परसे लगता है कि पूर्वजन्ममें मैं इन बुराइयोंका अनुभव ले चुका हूँ, इसलिये मुझे इनका आकर्षण ही नहीं होता।

हाँ, शतरंजका खेल मुझे अच्छा लगता था, तो खेलता था। एक बार सपनेमें शतरंज देखा, तो लगा कि यह खेल ही मुझपर हावी हो रहा है। दूसरे दिनसे मैंने शतरंजका खेल बंद कर दिया। वह मैंने खुद तोड़ा। इसलिये कह सकता हूँ कि वह मेरी इस जन्मकी कमाई है। लेकिन बाकी चीजोंका मुझे आकर्षण नहीं हुआ। वह मेरी इस जन्मकी कमाई नहीं है। यदि इच्छा होती और उसे मैं रोकता तो वह इस जन्मकी कमाई मानी जाती। इसलिये पुनर्जन्मपर विश्वास होता है। अनुमान, अनुभव और शास्त्रवचनसे यह निश्चित है कि पुनर्जन्म है। ब्यौरेमें जायँगे तो मतभेद हो सकता है।

इस्लाम भी सहमत

मुहम्मदसे कहा गया था कि 'गैब' यानी 'अज्ञात' की बात बताओ। उसने कहा 'अगर मैं जानता तो सारी सृष्टिपर मेरी सत्ता चलती। मृत्युके बाद जीवन कायम रहता है। वह नया शरीर धारण नहीं करता, लेकिन सूक्ष्म लिङ्गदेहमें पड़ा रहता है। नया शरीर, स्थूलशरीर धारण करता है या नहीं, स्पष्ट नहीं कह सकते। इसलिये कब्रिस्तानमें पड़े रहते हैं।' इस तरह मुसलमान लोग भी मानते हैं कि मृत्युके बाद जीवन है। सवाल यही है कि वह सूक्ष्म रूपमें है या स्थूल रूपमें?

एक दफा एक मुसलमान भाईसे चर्चा चल रही थी। मैंने उनसे कहा कि 'एक लड़का पैदा होता है और दो मिनटोंमें ही मर जाता है, तो क्या आखिरी दिन न्याय करते समय अल्ला उसके दो मिनटोंके पाप-पुण्यको देखकर न्याय करेगा? एक जीव अनन्त कालतक अव्यक्त रहता है। फिर दो मिनटोंके लिये व्यक्त हो जाता है और अनन्त कालतक अव्यक्त रहता है, यह बात तर्कसंगत नहीं मालूम होती।'

मैंने सुना है कि आजकल कुछ ईसाई भी पुनर्जन्म मानने लगे हैं। इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि जबतक विज्ञानके जरिये पुनर्जन्मका सिद्धान्त यथार्थ सिद्ध नहीं होता तबतक उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये।

पुनर्जन्मके बिना जीवन नीरस

हम यदि पुनर्जन्मको नहीं मानेंगे तो जीवनमें कोई स्वाद ही नहीं रहेगा। मान लें, इस समय कोई साँप मुझे

काटता है और मैं मर जाता हूँ तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि मैंने आजतक जो सारा ज्ञान प्राप्त किया, वह बेकार गया ? साँप-जैसे बुद्धिशून्य और क्षुद्र प्राणीके काटनेसे मेरा सारा ज्ञान एक क्षणमें नष्ट हो सके तो फिर मेरी सारी ज्ञान-लालसा ही खतम हो जायगी। लेकिन मुझे और भी ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा होती है; क्योंकि मैं पुनर्जन्ममें विश्वास करता हूँ। मैंने देखा है कि कइयोंको सिगरेट-बीड़ी पीनेकी इच्छा होती है। कई बड़े-बड़े लोगोंको उसमें आनन्द महसूस होता है। लेकिन मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि जरा इन बातोंका मजा चख लूँ! मेरा मन कभी उस ओर मुड़ता ही नहीं। इसका कारण यह हो सकता है कि अपने पूर्वजन्मोंमें इन सबकी व्यर्थता मुझे महसूस हो गयी हो। यह सारा सम्भव है।

इससे स्पष्ट है कि हर कोई अपने पुराने जन्मोंके अनुभवोंकी पूँजी लेकर नया जन्म लेता है। जबतक विज्ञान इसे साबित नहीं करता, तबतक उसे नहीं मानेंगे, यह ठीक नहीं। विज्ञानको तो बिल्कुल पूरा प्रमाण (फुल प्रूफ) चाहिये। 'फुल' कहो या 'फूल', सयानोंके लिये तो थोड़ा-सा भी प्रमाण (प्रूफ) काफी है। लेकिन वैज्ञानिकों और सामान्य जनोंके लिये तो बिल्कुल 'फूल प्रूफ' चाहिये।

परलोक और पुनर्जन्म

(लेखक—जगद्गुरु अनन्तश्रीरामानुजाचार्य पुरुषोत्तमाचार्य रङ्गाचार्यजी महाराज, पंढरपुर)

इस अल्पकाय निबन्धमें परलोक और पुनर्जन्मके विषयमें वेदके आधारसे किंचित् चर्चाका चित्रण किया गया है। 'परलोक' शब्दमें 'पर' और 'लोक' दो शब्द हैं। इनमें 'लोक' शब्द 'लोकस्तु भुवने जने' कोशके आधारसे भुवन और जन—इन दोनों अर्थोंका बोधक है। अर्थात् वेद 'लोक' और 'लोक-निवासी' दोनों अर्थोंमें 'लोक' शब्दका प्रयोग करता है। यहाँपर 'पर' शब्दका अर्थ अन्य है। दोनोंके अर्थोंको मिलानेसे 'परलोक' शब्दका अर्थ लोकान्तरमें अन्य लोक और अन्य योनि, दोनों विवक्षित हैं। अर्थात् 'परलोक' शब्दसे 'दूसरा लोक' और 'दूसरी योनि' दोनों विवक्षित हैं।

अनेक लोक

वेदोंमें अनेक लोकोंका निर्देश है। उसके मतमें आत्मा एक लोक है। पृथिवी और द्युलोक—ये दो लोक हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष और दिव्यलोक (द्युलोक)—ये तीन लोक हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु और अप्—ये चार लोक हैं। **भूः, भुवः, स्वः, महः**, जनः, तपः और **सत्यम्**—ये सात ऊर्ध्व-लोक हैं। अतल, वितल, तल, प्रतल, तलातल, महातल और पाताल—ये सात अधोभुवन हैं।

तीन लोक

इन सब लोकोंका देवलोक, पितृलोक और जीवलोकरूप तीन लोकोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। इनमें इन्द्र देवलोक हैं। यम पितृलोक हैं। मनुष्यलोक जीवलोक है। इसकी व्याप्ति पृथिवीसे लेकर चन्द्रमण्डलतक है। बृहदारण्यकका विज्ञान है कि 'इस लोकका जय पुत्रके द्वारा, पितृलोकका जय इष्टापूर्तद्वारा तथा देवलोकका जय विद्या-सहकृत कर्मके द्वारा है। परमात्माकी प्राप्ति विद्याके द्वारा होती है।' अथवा विद्योत्तर कर्मसे भी भगवत्प्राप्ति होती है।

देवलोक

कौषीतकी शाखामें अग्निलोक, वायुलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और ब्रह्मलोक—ये देवयान छः देवलोक हैं। देव स्वर्ग है अर्थात् प्रकाशमय लोक है।

वाजसनेयि शाखामें अग्निलोक, वायुलोक, आदित्यलोक, चन्द्रलोक और अशोकमहिमलोक—ये पाँच लोक देवलोक माने गये हैं। अन्य मतोंमें अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, चन्द्र, प्रजापति और ब्रह्म—ये सात देवलोक माने गये हैं। देवलोक, देवस्वर्गलोक और स्वर्गलोक—इनका अर्थ समान है। अर्थात् इन सब शब्दोंका अर्थ एक ही है।

नामान्तर

वेदोंमें अग्निलोक, वायुलोक और आदित्यलोक आदिके नामान्तर भी मिलते हैं। इनमें अग्निलोकका नाम 'अपोदक' है। वायुलोकको 'ऋतधामा' कहते हैं। इन्द्रलोकका नाम 'अपराजित' है। सूर्यलोकका नाम 'नाक' है। वेदोंमें दो प्रकारके नाक-लोकोंका निर्देश है। एक सूर्यलोकरूप नाक-लोक है, दूसरा प्रजापतिरूप नाक-लोक है। प्रजापतिरूप

नाक-लोक देवयानमार्गका अन्तिम लोक है । इसके ऊपर 'ब्रह्मपथ' है । वरुणलोक 'अधिद्यौ' है । मृत्युलोक 'प्रद्यौ' है । ब्रह्मलोकका नाम 'रोचन' है । ऋषि-तित्तिरीने प्रजापतिलोकको 'वियात' भी कहा है। यही नाक-लोक है । 'ताण्ड्य महाब्राह्मण'में उपलब्ध 'नाक' शब्दके अनुसार प्रजापति किसीके भी लिये 'अक' (दुःख) नहीं है; अतः वह 'नाक' है अर्थात् नाक-शब्दका अर्थ 'प्रजापति' है ।

पितृलोक

उदन्वती, पीलुमती और प्रद्यौ भेदसे पितृलोक तीन प्रकारके हैं । इनमें नीचेका द्युलोक 'उदन्वती' है, यह जल-प्राय है, अतः उदन्वती है । मध्यम द्युलोक 'पीलुमती' है । पीलु नाम वृक्षविशेषका है । उसकी अटवीके कारण वह पीलुमती है; वह वृक्ष और जल आदि सब सूक्ष्म प्राणमय ही हैं । तृतीय पितृ-लोकको प्रद्यौ कहते हैं । वहाँकी भूमि ज्योतिष्मती होनेके कारण 'प्रद्यौ' है । इनमें प्राणरूप पितर निवास करते हैं । ये पितर सांख्यदर्शनमें भौतिक सर्गमें परिगणित प्राणी पितरोंकी अपेक्षा भिन्न हैं । पितृ-स्वर्गोंको 'सौम्यस्वर्ग' भी कहते हैं । देवस्वर्ग आग्नेय है ।

यमलोक

सत्त्वगुणमें तमोगुणके अल्प और अधिक मात्राओंके सम्मिश्रणके कारण सत्त्वगुणके सात भेद हो जाते हैं । ये ही सत्त्वके सात भेद सात प्रकारके देवस्वर्ग हैं । तमोगुणमें भी सत्त्वगुणके अल्प और अधिक मात्राओंके संभेदके कारण तमोगुण भी सात प्रकारका हो जाता है । ये ही सात नरक हैं । वेदान्तदर्शनमें 'अपि च' सप्तसूत्रमें इनका ही निर्देश है । इनके नामोंका निर्देश शास्त्रोंमें इस प्रकार हुआ है—

१–रौरव, २–महारौरव, ३–कुम्भीपाक, ४–कालसूत्र, ५–तपन, ६–अवीचि और ७–संघात ।

इनमें भी प्रत्येकके चार-चार भेद हो जाते हैं । अतः अट्ठाईस प्रकारके नरक हैं । ये भी प्रत्येक तीन-तीन शाखाओंमें विभक्त हैं, अतः सब मिलाकर चौरासी प्रकारके नरक हो जाते हैं । पुराणोंमें प्रसिद्ध चौरासी नरक ये ही हैं । सात प्रकारके देवस्वर्ग, तीन प्रकारके पितृस्वर्ग और सात प्रकारके नरकोंमें जीवात्माकी गति कर्मोंसे होती है ।

जीवलोक

सांख्यदर्शनमें १४ प्रकारका भौतिक सर्ग मीमांसित है । इनमें ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र्य, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच भेदसे आठ प्रकारका दैव सर्ग है । यह सत्त्वविशाल है । मानुष सर्गको अवधि मानकर इसको ऊर्ध्व सर्ग भी कहते हैं । एक प्रकारका मानुष सर्ग है । यह मध्यम है । रजोविशाल है । स्थावर, स्तम्ब, कीट, पशु और पक्षी भेदसे पाँच प्रकारका तिर्यक् सर्ग है । यह तमोविशाल है । प्रकृतिमें तमोगुणको मूल माना गया है । अतः मूल सर्गके नामसे भी यह प्रसिद्ध है । ये चौदह प्रकारकी योनियाँ ही जीवलोक हैं । इन सर्गोंका वर्णन सांख्यदर्शनकी इन दो कारिकाओंमें भगवान् कृष्णने इस प्रकार किया है—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥
ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः ।
तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालः ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ।

ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त जो चौदह प्रकारकी योनियाँ हैं, उनको चतुर्दश लोक भी कहते हैं । इनमें सात देवस्वर्गों, तीन पितृस्वर्गों और सात प्रकारके नरकोंमें यह जीवात्मा विचरता है । इसका एक लोकसे दूसरे लोकमें जाना और तदनु गुण-शरीरका ग्रहण करना ही पुनर्जन्म है । केवल सांख्यदर्शनके आधारसे सत्त्वविशाल, रजोविशाल और तमोविशाल सर्गोंका निर्देश ऊपर किया गया है । वेदके सहयोगसे इनका वर्णन इस प्रकार होगा । सांख्य और वैशेषिक दर्शनोंके परम वैदिक होनेसे वेदके सहयोगसे इन सर्गोंका विश्लेषण एवं तदनुकूल इन कारिकाओंका अर्थ परम विशुद्ध होगा ।

सत्त्वविशाल सर्ग

१–ब्रह्मा, २–प्रजापति, ३–इन्द्र, ४–पितर, ५–गन्धर्व, ६–यक्ष, ७–राक्षस, ८–पैशाच, ९–मनुष्य, १०–पशु, ११–पक्षी, १२–कृमि और १३–कीट ।

यह सर्ग सत्त्वविशाल है । चेतन है ।

रजोविशाल सर्ग

१–स्तम्ब, २–कुश, ३–काश, ४–वल्ली, ५–तृण, ६–उलुप, ७–क्षुपक और ८–वृक्ष आदि ।

यह सर्ग रजोविशाल है। यह अर्धचेतन है।

तमोविशाल सर्ग

१–मणि, २–मुक्ता, ३–वज्र, ४–काच, ५–गन्धक, ६–पारद और ७–अभ्रक आदि।

यह सर्ग तमोविशाल है। इसमें केवल अर्थ-शक्तिका ही प्राधान्य है। क्रिया (प्राण) और ज्ञान (मन)—दोनों मूर्छित हैं। अतः यह सर्ग अचेतन जीवोंका है। इसलिये अचेतन सर्ग है। अचेतन होनेसे ही तमोविशाल है। ये चौदह प्रकारके जीव-सर्ग ही उच्चावच भेदसे ८४ लाख जीव-योनियाँ हैं। इनमें जीवात्मा सतत भ्रमण करता रहता है। अर्थात् जबतक मुक्ति नहीं होती, तबतक वह इन १४ प्रकारकी योनियोंमें योनिगतिसे भ्रमण करता है। सात प्रकारके देवलोक, तीन प्रकारके पितृस्वर्ग एवं सात प्रकारके यमलोक—इनमें वह कर्मगतिसे फिरता है। मुक्ति न होने-तक इन लोकोंमेंसे किसी एक लोकमें वह अवश्य रहता है।

चान्द्र जीव

चान्द्र (सौम्य), वायव्य और आप्य भेदसे जीव तीन प्रकारके हैं। इनमें आप्य जीव मत्स्य आदि हैं। वायव्य जीव मनुष्य आदि हैं, चान्द्र जीव ब्रह्मा आदि हैं। इन चतुर्दश योनियोंमें आठ प्रकारके ऊर्ध्व सर्गोंके प्राणी ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाचरूप आठ योनियोंमें उत्पन्न होनेवाले चान्द्र जीवोंकी माता पृथिवी छाया है। पिता चान्द्र प्रकाश है। यह चान्द्र जीव अयात है। इनके अट्ठाईस इन्द्रियाँ हैं। वैशेषिक दर्शनमें प्रसिद्ध ग्यारह इन्द्रियाँ तो इनके होती ही हैं। परंतु आठ सिद्धियाँ और नौ तुष्टियाँ अधिक होती हैं।

आठ सिद्धियाँ

१–अणिमा–छोटा शरीर धारण करनेकी शक्ति।
२–महिमा–महाविशाल शरीर धारण करनेकी शक्ति।
३–लघिमा–परम लघु—हल्का होनेकी शक्ति।
४–गरिमा–परम गुरु (भारी) होनेकी शक्ति।
५–व्याप्ति–बहुत देशोंमें पसरनेकी शक्ति।
६–प्राकाम्य–इच्छा होते ही वस्तु प्राप्त करनेका सामर्थ्य।
७–ईशित्व–सहस्रों प्राणियोंपर प्रभुत्व करनेकी शक्ति।
८–वशित्व–सर्प, व्याघ्र आदिको वशीभूत करनेकी शक्ति।

नौ तुष्टियाँ

१–भूत-भविष्य-ज्ञान—अवधान करते ही भूत और भविष्यको जान लेना।
२–दूरदृष्टि–दूर-दूर सहस्र कोसोंतक देखना।
३–दूरश्रवण—दूर-दूर देशोंकी बातोंको सुनना।
४–परकायप्रवेश—दूसरेके शरीरमें प्रवेश करना।
५–कायव्यूह—एक ही कालमें अनेक रूप धारण करना।
६–जीवदान—मृतको जीवित करना।
७–जीवहरण—जीवितको मार देना।
८–सर्गकरण—नवीन सृष्टि करना।
९–सर्गहरण—सृष्टिका संहार करना।

ये १७ शक्तियाँ और सर्वसाधारण ११ इन्द्रियाँ मिलाकर अट्ठाईस इन्द्रियाँ होती हैं। चान्द्र जीवोंमें ये स्वाभाविक हैं, अर्थात् जन्मना हैं।

मनुष्योंको इनकी प्राप्ति मन्त्रयोग आदिसे होती है। आठ प्रकारके चान्द्र जीवोंका निवास चन्द्रिका, छाया और अन्धकार है। इनमें ब्रह्मा, प्रजापति और इन्द्र प्राणी चन्द्रिका-में निवास करते हैं। पितर छायामें निवास करते हैं। गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच प्राणी अन्धकारमें निवास करते हैं। इनका भोजन क्रमशः अमृत, अन्न और सुरा है।

'आब्रह्मभुवनात् लोकात्'में भौतिक सर्गस्थ प्राणी ब्रह्मा-का भुवन विवक्षित है। इनमें भी सत्त्वगुणमें उत्कर्ष और अपकर्षसे परस्परमें उच्चावच भेद हैं। सत्त्वगुणके उत्कर्षके कारण पिशाच, राक्षस, यक्ष और गन्धर्व योनियोंकी अपेक्षा पितर, इन्द्र, प्रजापति और ब्रह्मा—ये योनियाँ उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। इन सांख्योक्त १४ प्रकारके भूतसर्गों और देवसर्गों, पितृसर्गों और नरकलोकोंमें अज्ञानसे सम्मिश्रण-सा लोगोंने कर लिया है, जिससे शास्त्रोंके अर्थ समझनेमें महान् अवरोध उत्पन्न हो गया है।

भेद

योनिगति-निबन्धन सांख्य और योगमें कथित चौदह प्रकारके भूत-सर्गोंमें परिगणित ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच आदिकी अपेक्षा कर्मगति-निबन्धन सौर आदि प्राणात्मक सर्गमें परिगणित ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच आदि भिन्न हैं। योनि-निबन्धन भौतिक सर्गमें परिगणित ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और

पिशाच आदि प्राणीरूप हैं। सौर आदि प्राणात्मक सर्गोंमें विद्यमान ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच प्राणरूप हैं। चान्द्रसर्गानुगत ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच आदि भूतसर्ग-प्रधान होनेसे मर्त्य हैं। सौर इन्द्र, अन्नाद, पितर आदि प्राणसर्गात्मक देवसर्ग-प्रधान होनेसे अमृत है।

चान्द्रजीवोंमें पिता, पुत्र, भार्या, जन्म, मृत्यु, रथ, वाहन आदि सब व्यवहार अस्मदादिवत् ही व्यवस्थित हैं—प्राणात्मक इन्द्र आदि देवोंमें यह व्यवहार नहीं है। चान्द्रजीव पार्थिव और चान्द्र होनेसे पृथिवीसे लेकर चन्द्र-मण्डलतक ही सीमित हैं। सौर इन्द्र आदि देव त्रैलोक्य-व्यापक हैं। तत्तत् प्राणविशेषोंका तत्तत् प्रदेशोंमें अधिक विकास होनेसे उस-उस प्रदेशको वरुणलोक, इन्द्रलोक आदि कहा गया है; परंतु प्रकाशरूप इन्द्र और अन्धकाररूप वरुण सर्वत्र व्याप्त हैं। चान्द्रजीव ब्रह्मा, प्रजापति और इन्द्र आदि देवोंमें यह व्यवहार नहीं है। चान्द्रजीव ब्रह्मा, प्रजापति और इन्द्र आदि पुरुषविध हैं। भूतसर्गमें परिगणित ब्रह्मा प्रजापति और इन्द्र भौमस्वर्ग हैं। पितर और गन्धर्व भौम पितृस्वर्ग हैं। यक्ष, राक्षस, पिशाच भौम नरक हैं। स्थावर स्तम्ब और कृमि आदि भी भौम नरक हैं। मानुषसर्ग मनुष्य-लोक है। इन भौमस्वर्ग, भौम पितृस्वर्ग, भौम नरकोंसे दिव्य स्वर्ग, आन्तरिक्ष्य पितृस्वर्ग एवं याम्य नरक भिन्न हैं। जहाँ दिव्यस्वर्गों, पितृस्वर्गों और याम्य नरकोंमें विद्यासह कृत कर्मों, केवल कर्मों, विकर्मों और अकर्मोंसे गति होती है, वहाँ भौमस्वर्गों और भौम नरकोंमें केवल योनिगति ही होती है। गतिविशेषोंका वर्णन विस्तारसे अनुपदमें ही होगा।

मार्गविशेष

एक देहको त्यागनेके अनन्तर लोकान्तरमें जाना और वहाँके रससे शरीरका ग्रहण ही पुनर्जन्म है। गतिके हेतु नियत देशको 'मार्ग' कहते हैं। देवयान-पितृयाण भेदसे मार्ग दो प्रकारके हैं। देवयान मार्गको वेदोंमें उत्तरमार्ग, अर्चिरादिमार्ग, शुक्लमार्ग और देवमार्ग भी कहते हैं। पितृयाणके भी दक्षिणमार्ग, धूममार्ग, कृष्णमार्ग और पितृमार्ग—ये नामान्तर हैं। इनमें देवयानकी देवपथ और ब्रह्मपथ भेदसे दो शाखाएँ हैं। पितृयाणकी भी पितृपथ और यमपथ भेदसे दो ही शाखाएँ हैं। साम्परायिक मार्गोंके चतुर्धा विभक्त होनेसे गतियाँ भी चार ही हैं। इन गतियोंका अभिधान वेदोंमें इस प्रकार उपलब्ध हैं। परमागति, उत्तमागति, सद्गति और दुर्गति। ब्रह्मपथमें संचार करना 'परमागति' है। यही 'मुक्ति' है। देवपथमें संचार करना 'उत्तमागति' है। पितृपथमें संचार करना 'सद्गति' है। यमपथमें संचार करना 'दुर्गति' है।

गतियोंके कारण

ब्रह्मपथ, देवपथ, पितृपथ और यमपथमें संचाररूप चार गतियोंके सम्पादक कर्म, नाड़ी, आकाश, छन्द, देव और आतिवाहिक—ये छः होते हैं। इनके द्वारा जीवात्मा देवयान अथवा पितृयाण—इन मार्गोंमें संचार करता है। इनमें भी मुख्य कर्म ही है। विद्योत्तर कर्म ब्रह्मपथमें संचारका कारण होता है, अर्थात् निष्कामभावसे आचरित यज्ञ, दान और तप आदि कर्म जीवात्माकी मुक्तिके सम्पादक हैं। विद्या-समुच्चित कर्म देवपथमें संचारके हेतु होते हैं, अर्थात् सकामभावसे आचरित यज्ञ, दान और तप देवपथसे देव-स्वर्गोंमें जानेके कारण होते हैं। विद्यानिरपेक्ष कर्म पितृपथमें संचारके हेतु हैं, अर्थात् विद्यारहित केवल इष्ट एवं पूर्त आदि कर्म जीवात्माको पितृस्वर्गमें ले जाते हैं। अकर्मों और विकर्मोंसे जीवात्माका यमपथमें संचार होता है, अर्थात् हिंसा, स्तेय, अनृत आदि जीवात्माको नरकोंमें ले जाते हैं।

शारीरिक देवयान और पितृयाण

अधिदैवतवत् अध्यात्ममें भी देवयान और पितृयाण मार्ग हैं। इनमें हृदयसे अधोगामिनी नाड़ियाँ पितृयाण मार्ग हैं। हृदयसे ऊर्ध्वगामिनी नाड़ियाँ देवयान मार्ग हैं। इनमें पितृयाण और देवयान दोनोंके दो-दो भेद हो गये हैं। पितृपथ और यमपथ—ये पितृयाणके भेद हैं। इनमें मूलाधार-गता नाडी यमपथ है। यह नाडी सीधी नीचेको गयी है। हृदयसे जो नाडियाँ विषूची अर्थात् तिरछी जाती हैं, वे पितृपथ हैं। हृदयसे मूर्धाद्वारा विनिर्गत नाडी ब्रह्मपथ है। हृदयसे कण्ठ आदि देशोंसे विषूची (तिरछी) विनिर्गत नाडियाँ देवपथ हैं।

आकाश

अध्यात्मवत् अधिदैवतमें भी देवयान और पितृयाण मार्ग हैं। इनमें अगस्त्यसे उत्तर और अजवीथीसे दक्षिण आकाशके ४२ अंश पितृयाण मार्ग हैं। इसके नीचे

यमपथ है। नक्षत्रियोंमें दक्षिण नागवीथीसे उत्तरमें आकाशका ४२वाँ अंश देवयान मार्ग है। इसके ऊर्ध्वमें ब्रह्मपथ है। आजकल प्रचलित ज्योतिषकी परिभाषामें पितृपथको 'मकरवृत्त पथ' और देवपथको 'कर्क मार्ग' कह सकते हैं।

कर्कवृत्त और विषुवत्‌वृत्तसे मकरवृत्तके दक्षिणमें होनेसे यह मार्ग 'दक्षिणायन' मार्ग कहलाता है।

छन्द

'तैत्तिरीय संहिता'में छन्दोंको भी पितृयाण और देवयान मार्ग माना है। वाक् छन्द और प्राण छन्द भेदसे छन्द दो प्रकारके हैं। इनमें वाक् छन्द पितृयाण मार्ग है। प्राण-छन्द देवयान मार्ग है।

देव

'मैत्रायणी संहिता'में देवोंको भी पितृयाण और देवयान मार्ग माना है। इनमें अग्नि देवयान मार्ग है। सोम पितृयाण मार्ग है।

अतिवाहिकगण

तत्तत् मार्गोंकी गतिके सहकारियोंको 'अतिवाहिक' कहते हैं। ये जीवात्माका तत्तल्लोकोंमें अतिवहन करते हैं; अतः अतिवाहिक हैं।

पितृयाणके अतिवाहिक

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायनके छः मास, सौम्य संवत्सर (पितृलोक), आकाश और चन्द्र—ये पितृयाणके अतिवाहिक हैं। ये जीवात्माको तीन प्रकारके पितृस्वर्गों तथा सात प्रकारके नरकोंमें पहुँचाते हैं।

देवयानके अतिवाहिक

अर्चि, अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायणके छः मास, सौर संवत्सर (देवलोक) जहाँतक अग्निलोक है। उसके अनन्तर वायुलोक है, तदनन्तर आदित्यलोक है, तदनन्तर चन्द्रलोक है, तदनन्तर वैद्युतलोक है और तदनन्तर ब्रह्मलोक है। यहाँ-तक देवपथ है। इसके अनन्तर ब्रह्मपथ है। ब्रह्मपथमें संचार करनेके अनन्तर जीवात्माका पुनर्जन्म नहीं होता है; परंतु देवस्वर्गों, पितृस्वर्गों और नरकोंसे जीवात्माका अवरोहण होता है।

अवरोहण

जीवात्माका देवस्वर्गों, पितृस्वर्गों और नरकोंसे कर्मक्षयके अनन्तर पुनरपि भूमि (मानुषलोक) में आना 'अवरोहण' है। इस अवरोहणके ये अतिवाहक हैं। चन्द्रमा, आकाश, वायु, धूम, अभ्र, मेघ, वृष्टि, पृथिवी, अन्न, रेत, पुरुष और स्त्री—इनके द्वारा जल पुरुषरूपमें परिणत हो जाते हैं—जो जल जीवमय रहते हैं।

दंश-मशक-ओषधि-वनस्पति आदि अनस्थि जीवोंकी कर्मगति नहीं होती है। अतः वे 'अगति' हैं। सुगति अथवा दुर्गति—इन दोनोंमेंसे एक भी गति इनकी नहीं होती है। गतिकी विशद विवेचना अनुपदमें ही होगी।

गतिभेद

देहत्यागके अनन्तर लोकान्तरमें जाना ही गति है। भिन्न-भिन्न लोकोंमें भिन्न-भिन्न देहोंको धारण करना ही 'पुनर्जन्म' है। आत्माकी सब मिलाकर दस प्रकारकी गतियाँ होती हैं। उनके नामोंका निर्देश उपनिषदोंमें इस प्रकार है—

१–संसारगति, २–अतिमुक्ति, ३–अतिमृत्यु, ४–पशुत्व, ५–ब्राह्मी गति, ६–दैवी गति, ७–पैत्री गति, ८–नारकी गति, ९–अगति और १०–समवलय।

इन दस गतियोंमेंसे कोई-न-कोई गति भूतात्माकी अवश्य होती है। तीनों लोकोंमेंसे किसी-न-किसी लोकमें वह अवश्य रहता है।

दो गतियाँ

इन सब गतियोंका संसारगति और साम्पराय-गतिरूप दो गतियोंमें ही अन्तर्भाव है।

संसारगति

इनमें सांख्योक्त भूतसर्गमें—ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त चौदह योनियाँ हैं। इनके भेद ही ८४ लाख योनियाँ हैं। इनमें यह जीवात्मा जन्मकर और मरकर एक योनिसे दूसरी योनिमें भ्रमण करता रहता है। यही योनि-परिवर्तन मनुष्यलोकमें जीवात्माकी 'संसारगति' है। इस मनुष्यलोककी सीमा पृथिवीसे लेकर चान्द्र संवत्सरतक है। जिन-जिन कर्मोंके द्वारा जिन-जिन योनियोंमें जिस-जिस प्रकार इस भूतात्माको संसारगति मिलती है, उस संसारगतिकी कर्मगतिका मनुस्मृतिके १२वें अध्यायमें विशद वर्णन है। इस संसारगतिके अतिरिक्त आत्माकी जितनी गतियाँ हैं, वे सब 'साम्परायिक गति' कहलाती हैं।

साम्परायिक गतियाँ

साम्परायिक सब गतियोंका भी नित्यगति और कालगति भेदसे दो भागोंमें विभाजन है। इनमें नित्यगति भी दो प्रकारकी है—'भूतगति' और 'कालगति'। इन दोनोंका उपनिषदोंमें क्रमशः 'अतिमुक्ति' और 'अतिमृत्यु' अभिधान है। इनमें अतिमुक्तिकी व्याख्या इस प्रकार है—

अतिमुक्ति

प्रत्येक प्राणी पाँच भूतों और पाँच देवताओं (प्राणों) की समष्टि है। इनमें पाँच भूतोंसे शरीरका निर्माण हुआ है, पाँच देवताओंसे आत्माका निर्माण हुआ है। इस आत्मा और शरीरका जबतक परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, तबतक ही जीवन है। इन दोनोंमें प्रतिदिन नित्यगति हुआ करती है, जिसके कारण शरीरसे पञ्चभूत आत्माके देवताओंसे पृथक् होकर निकलते रहते हैं। निकले हुए पञ्चभूत पृथिवीके पाँच भूतोंमें सम्मिलित होते रहते हैं। इस प्रकार शारीरिक धातुओंका देवताओंसे सम्बन्ध छूटकर भूतोंके स्वरूपमें आ जाना 'अतिमुक्ति' है।

अतिमृत्यु

अतिमृत्युकी व्याख्या भी उपनिषदोंमें इस प्रकारसे उपलब्ध है। जैसे शारीरिक धातुओंका देवताओंसे सम्बन्ध छूटकर भूतोंमें आ जाना अतिमुक्ति है, वैसे ही शारीरिक देवताओं (वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन) का मृत्युरूप भूतोंके बन्धनसे छूटकर आकाशके पाँच देवताओंके रूपमें परिणत हो जाना 'अतिमृत्यु' है। भूतोंके सदृश ये देवता भी प्रतिक्षण शारीरिक पाँच भूतोंसे पृथक् होकर निकलते ही रहते हैं; अतः ये दोनों गतियाँ नित्यगति हैं।

कालगति

जैसे सम्पराय गतिके नित्यगति और कालगति दो भेद हैं, वैसे ही कालगतिमें भी भूतगति और प्राणगति रूप दो भेद हैं। इनमें भूतगति पञ्चत्वगति है। पञ्चभूतोंसे बने हुए इस शरीर और पञ्चप्राणोंसे बने हुए आत्मा—इन दोनोंका परस्पर जो भूतात्माके द्वारा सम्बन्ध है, उसके शिथिल होनेपर जब विच्छिन्न होकर दोनों पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, तब उस शरीरके पाँचों भूत पृथिवीके पाँचों भूतोंमें लीन हो जाते हैं। यही 'पञ्चत्व गति' है। इसको 'देहान्त' भी कहते हैं।

प्राणगति

प्राणगतिको उपनिषदोंने 'उत्क्रान्ति' कहा है। इसमें कर्मात्मा पृथिवीको छोड़कर ऊपर देवलोक अथवा पितृलोकमें उत्क्रमण करता है, अतः यह उत्क्रान्ति है। इसके चार भेद हैं—ब्रह्मगति, दैवी गति, पैत्री गति और नारकी गति। इनका वर्णन विस्तृतरूपमें ऊपर आ गया है। आत्मा नित्य है। कहीं-न-कहीं परिभ्रमण करना इसका स्वभाव है, ऊर्ध्वलोकोंमें जाना ही इसकी उत्क्रान्ति है। आत्माके स्वरूप तथा उसके नित्यत्वका विवेचन अनुपदमें ही होगा।

अगति

कई आत्माओंकी ऊर्ध्व अथवा अधः—दोनों गतियाँ नहीं होती हैं। इसका कारण विद्याका अतिशय और कर्मका प्राबल्य है। क्षीणविद्य आत्मा यहीं—जिनमें अस्थि नहीं होती, ऐसे दंश, मशक, यूका, लिक्षा और मत्कुण आदि योनियोंमें जन्म लेते हैं। जिनमें विद्याका अत्यन्त अभाव हो गया है, उन जीवात्माओंका जन्म ओषधि, यव, व्रीहि, चणक आदिमें होता है। इन दो प्रकारके जीवात्माओंकी अगति होती है। अर्थात् वे 'जायस्व' और 'म्रियस्व'के अनुसार जनमते-मरते रहते हैं। अतः यह 'अगतिरूपा' गति है।

समवलय गति

विद्या और कर्म आत्माके नित्य धर्म हैं। ये दोनों आत्मामें तारतम्यसे रहते हैं। ये दोनों ही आत्माकी गतिके कारण होते हैं। कभी कर्मोत्तर विद्या रहती है, तो कभी विद्योत्तर कर्म रहता है। अर्थात् कभी आत्मामें विद्याकी वृद्धि और कर्मकी क्षीणता रहती है, तो कभी कर्मकी वृद्धि और विद्याकी क्षीणता रह जाती है और कभी केवल विद्या ही रह जाती है। कभी केवल कर्म ही रह जाते हैं, विद्या निःशेष विलुप्त हो जाती है। केवल कर्मावस्था और केवल विद्यावस्था—इन दोनोंमें उत्क्रान्ति अथवा गति नहीं होती है। जब केवल विद्या ही रह जाती है और कर्म विलुप्त हो जाते हैं, तब उस व्यापक आत्माको परिच्छिन्नकर सीमाबद्ध करनेवाले कर्मोंके नष्ट हो जानेपर आत्मा स्व-स्वरूपमें व्यापक हो जाता है, अर्थात् उसके प्राणोंकी उत्क्रान्ति न होकर यहाँ ही वे प्राण नष्ट हो जाते हैं। इसमें बृहदारण्यक उपनिषद् (४। ४। ६) में उपलब्ध—'**न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते।**' विज्ञान ही प्रमाण है, अर्थात् उस आत्माका उत्क्रमण